युगत्रये पूर्वमतीतपूर्वे,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्ला।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्ति चतुर्थमल्लः॥

सहायकगण की शुभ नामावली

दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडित रत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रभावशाली व्याख्यान सीरिज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्नलिखित महानुभावों ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके रुपये:—

९००१) श्री श्वे. स्था. जैन महावीर मण्डल, उदयपुर
५०१) श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पितलिया, सिहोर की छावनी
५००) श्रीमान् सेठ गुलराजजी पूनमचन्दजी, मदनगंज
३००) ,, ,, चौथमलजी सुराणा, नाथद्वारा
२५०) { ,, ,, कुंवर मदनलालजी संचेती, ब्यावर
,, ,, सेठ जीवराजजी कोठारी, नसीराबाद }
२०१) ,, ,, साहबलालजी मेहता फर्म गुलाबचंद भंवरलाल मेहता धानमन्डी, उदयपुर
२००) ,, ,, शंभूमलजी गंगारामजी बंबई फर्म की तरफ से श्रीमान् सेठ केवलचंदजी सा. चौपड़ा, सोजत सीटी
१५१) ,, ,, चंदनलालजी मरलेचा शूलाबजार, बैंगलौर कैंट
१५१) ,, ,, गेंदालालजी मोतीलालजी सा. पोरवाड़ इन्दौर

१५१) श्रीमान सेठ हजारीमलजी चम्पालालजी सगरावत
मु० निम्बाहेड़ा (राज.)
१५०) ,, ,, राजमलजी नन्दलालजी, भुसावल
१५०) ,, ,, हस्तीमलजी जेठमलजी, जोधपुर
१२१) ,, ,, कन्हैयालालजी कोटेचा की धर्मपत्नी सौभाग्य-
वती सूरजबाई कोटेचा फर्म कन्हैयालाल
चाँदमल कोटेचा, बोदवड़ (पू खा.)
१२५) ,, ,, जिनगर अमरचन्दजी इन्दरमलजी गौतमचन्दजी
जैन गंगापुर
१२५) ,, , कस्तूरचन्दजी पूनमचन्दजी जैन, गंगापुर
१२५) ,, ठेकेदार तोलारामजी भंवरलालजी, उदयपुर
१२५) ,, ,. धनराजजी फतहलालजी, उदयपुर
१२५) श्रीमती सौभाग्यवती तारादेवीबाई कोटेचा,
फर्म श्रीमान सेठ मांगीलालजी केसरीचंदजी कोटेचा,
भूसावल (पू० खा०)
१०१) श्रीमान सेठ रंगलालजी झामड़ नादूंरा वालों की धर्मपत्नी
श्रीमती सौभाग्यवती तुलसीबाई नादूंरा (बरार)
१०१) श्रीमान जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी गंगापुर (मेवाड़)
१०१) ,, पन्नालालजी बाफणा की पूज्य मातेश्वरी मोहनबाई
उदयपुर
१०१) श्रीमान सेठ मोतीचन्दजी रतनचन्दजी चोरड़िया
मु० कटंगी (बालाघाट)
१०१) ,, ,, गणेशलालजी भँवरलाल पंसारी कोटा
१०१) ,, ,, अमोलकचंदजी बोहरा
फर्म रखबचन्दजी लालचन्दजी जैन, रामगंज मन्डी
१०१) श्रीमान सेठ जसराजजी मोहनलालजी बोहरा,
मु० सोरापुर भंडार

१०१) श्रीमान सेठ सूरजमलजी सा० बोथरा
फर्म कन्हैयालालजी इन्दरमलजी जैन,
मु० रामगंज मन्डी

१०१) सौ० पार्वतीबाई फर्म उत्तमचंद नवलचन्द एन्ड सन्स
वरड़िया जलगांव (पू० खा०)

१०१) श्रीमान सेठ रतनलालजी गांग के सुपुत्र पोपटलालजी की
धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिबाई मु० चींचखेड़ा
ता. जामनेर पो. फत्तहपुर (पू. खा.)

१०१) श्रीमान सेठ गणेशमलजी छत्तीसा बोहरा की धर्मपत्नी
श्रीमती सौ. पानबाई, खामगांव

१०१) ,, ,, मगनीरामजी हणुमतमलजी झामड़ तर्फे
श्रीमान उत्तमचन्दजी रतनलालजी झामड़
मु० खामगांव (वरार)

१०१) ,, ,, रामचन्द्रजी बोथरा अपने स्व० पूज्य पिताश्री
सेठ घासीरामजी की स्मृति में दांदली (वरार)

१०१) ,, ,, धनराजजी हीरालालजी जैन खटोड़ मेड़सी
वाला, मु० पो० अकोला (वरार)

१०१) ,, ,, रामानन्दजी मोतीलालजी जांगड़ा धामणगांव

१०१) ,, ,, अगरचंदजी मांगीलालजी बोहरा,
वरोरा (म. प्र.)

१०१) ,, ,, मांगीलालजी चोरड़िया की धर्मपत्नी
श्रीमती राजीबाई वरोरा (म. प्र)

१०१) ,, ,, भेरूलालजी अणतमलजी बोहरा वरोरा (म. प्र.)

१०१) ,, ,, सागरमलजी राजमलजी बोहरा
चन्दनखेड़ा वाला वरोरा (म. प्र.)

१०१) श्रीमान सेठ गणेशमलजी गुलाबचंदजी गोठी बरोरी (म. प्र.)
१०१) ,, मोहनलालजी मदनलालजी कोटेचा,
अड़ेगांव वाला (वणी) बरार
१०१) ,, बालचंदजी ताराचंदजी कोटेचा. मु० वणी (बरार)
१०१) ,, चुन्नीलालजी के सुपुत्र स्व. पानमलजी चोरड़िया,
की धर्मपत्नी श्री ताराबाई मु० वणी (बरार)
१०१) ,, मुलतानमलजी बलवन्तरामजी खींचा
मु० सावरगांव (बरार)
१००) ,, प्राणलालजी सा. सांखला, उदयपुर
१२१) ,, माणकचन्दजी छगनलालजी गोठी. जयपुर
१०१) ,, जवाहरमलजी मुल्तानमलजी बम्ब, भुसावल
१०१) ,, हीरालालजी मोतीलालजी धानेचा बोहरा,
खामगांव
१०१) ,, मिश्रीमलजी पारसमलजी कातरेला,
बैंगलोर सिटी
१०१) ,, कन्हैयालालजी बच्छराजजी सुराणा, बागलकोट
१००) ,, मन्नालालजी भेरूलालजी पोरवाड़,
राजाखेड़ी वाला, मन्दसौर

दो शब्द
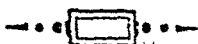
स्व० दिवाकरजी म० (चौथमलजी म०) सा० के व्याख्यानों का प्रकाशन सुन कर प्रसन्नता हुई। दिवाकरजी म० बड़े प्रभावशाली व यशोनाम प्राप्त महापुरुष थे। जहाँ भी वे पधारते उनके यशोनाम के प्रभाव से अपार जनमेदिनी उमड़ जाती थी। उनके उपदेश जनोपयोगी होते थे। उनके उपदेशों का प्रभाव जैन तो क्या अजैन व मुस्लिम जनता पर भी गहरा था। ऐसे महापुरुषों के वचनामृतों का चयन भविष्य में उपयोगी सिद्ध होगा। मैं आशा रखता हूं कि इस प्रकाशन से जन मानस उज्ज्वल बनेगा यही एक मात्र भावना।

पण्डित रत्न वयोवृद्ध मन्त्री—
मुनि श्री पन्नालालजी महाराज

विषयानुक्रमणिका

आग की उपशान्ति

स्तुतिः—

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नाम कीर्त्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवान् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

हे महाप्रभो ! छठे आरे के पश्चात् खण्डप्रलय होता है। उस समय सात दिन तक अग्नि की वर्षा होती है। अत्यन्त उग्र आंधी चलती है। उस आंधी के कारण वह अग्नि और भी अधिक भयंकर बन जाती है। तो प्रलयकाल की आंधी से उग्र बनी हुई अग्नि के

समान दावानल सुलग रहा हो । उसमें से ऊँची-ऊँची ज्वालाएँ निकल रही हों, चिनगारियाँ उड़ रही हों । ऐसा जान पड़ता हो कि यह आग वढ़ती-वढ़ती अखिल लोक को भस्म कर देगी ! ऐसी स्थिति में हे भगवान् आदिनाथ ! आपका नामकीर्त्तन करने सामने से आती हुई वह आग तत्काल शान्त हो जाती है ।

भाइयो ! आदिनाथ की स्तुति की आचार्य महाराज ने जो महिमा वतलाई है, उसे सुनकर आपको आश्चर्य हो सकता है । आप सोचते होंगे कि भयानक दावानल भगवान् के नामकीर्त्तन से किस प्रकार शान्त हो जाता है ? परन्तु वास्तव में इसमें आश्चर्यचकित होने की कोई वात नहीं है । इस महिमा पर अविश्वास करने का तो कोई कारण ही नहीं है । भगवत्-नाम का प्रभाव वाणी द्वारा अगोचर है, कल्पनाशक्ति से परे है और हमारी वुद्धि उसे पूरी तरह समझ नहीं सकती ।

भगवान् के नाम के प्रभाव को समझने के लिए मौलिक तात्त्विक चिन्तन की आवश्यकता है । चित्त को विषय-वासनाओं से पृथक् करके प्रभुमय वनाने की आवश्यकता है । चित्त जव प्रभुमय वन जाता है, भगवत्स्वरूप के साथ एकाकार हो जाता है, परमात्मा के रंग में पूरी तरह रंग जाता है, तव दृष्टि में एक ऐसी निर्मलता उत्पन्न होती है जैसी पहले कभी नहीं हुई थी । उस निर्मल और आन्तरिक दृष्टि में अपूर्व प्रतिभास होता है । उसीसे तत्त्व का यथार्थ वोध होता है और परमात्मा की महिमा समझ में आती है ।

इस संवंध में एक वात और स्मरण रखनी चाहिए । यह जगत् जड़ और चेतन मय है यों तो संसार में असंख्य-अनन्त पदार्थ प्रतीति में आते हैं, परन्तु उनमें मौलिक दो ही हैं । शेष सव का समावेश दो में ही हो जाता है । यद्यपि दोनों जड़ और चेतन

की सत्ता स्वतंत्र है, किसी की सत्ता किसी पर निर्भर नहीं है, तथापि दोनों ही एक दूसरे के प्रभाव से प्रभावित होते हैं। जड़ का चेतन पर प्रभाव पड़ता है और चेतन का जड़ पर।

साधारणतया जड़ का चेतना पर पड़ने वाला प्रभाव तो हमारी समझ में जल्दी आ जाता है, परन्तु चेतना का जड़ पदार्थों पर जो प्रभाव पड़ता है, उसको समझने में कठिनाई होती है। फिर भी ध्यान दिया जाय तो उसे समझना असंभव नहीं है। एक स्थूल उदाहरण लीजिए। मनुष्य जो भोजन करता है, उसमें नाना प्रकार के परिवर्त्तन होते हैं। पेट में गया हुआ आहार आमाशय में पहुँचता है। वहाँ उसके दो भाग हो जाते हैं–खलभाग और रसभाग। खलभाग वह भाग है जो बेकार होता है। वह शरीर में से विभिन्न मार्गों द्वारा बाहर निकल जाता है। रसभाग से रक्त बनता है, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से हड्डियाँ, हड्डियों से मज्जा और मज्जा से शुक्र धातु बनती है। यह सब उसी भोजन के रूपान्तर हैं, जिन्हें मनुष्य खाता है।

अगर किसी मुर्दे के मुँह में भोजन डाल दिया जाय तो क्या होगा। पहले तो वह स्वतः भीतर जायगा ही नहीं। अगर आप जबर्दस्ती करके किसी प्रकार ठूंस देंगे तो उसका खल-रस रूप परिणमन होना असंभव है। न उसका रस बनेगा, न रक्त आदि धातुएँ ही बनेंगी।

तो जीवित शरीर में यह सब परिणाम नहोता है और मृतक शरीर में परिणमन नहीं होता। इसका निष्कर्ष यही निकला कि जीव ही भोजन को नाना अवस्थाओं में परिणत करता है। यही जीव के द्वारा अजीव पर पड़ने वाला प्रभाव है। इस स्थूल उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि जैसे अजीव अपने असर से जीव

को प्रभावित करता है, उसी प्रकार जीव में भी अपने असर से अजीव को प्रभावित करने का गुण है।

रह गई प्रभावित करने की मात्रा, अर्थात् जीव किस हद तक जड़ को प्रभावित कर सकता है, यह बात जीव के सामर्थ्य पर निर्भर है। जीव की शक्तियों का जितना ही विकास होगा, उतनी ही अधिक प्रभावक शक्ति उसमें होगी।

जिस मनुष्य की इच्छाशक्ति तीव्र है, जिसका संकल्पवल उग्र है, वह अधिक परिवर्त्तन कर सकता है। यहाँ तक कि अपनी संकल्पशक्ति के द्वारा भी वह जड़ पदार्थों को प्रभावित कर सकता है।

भक्त जीव का संकल्पवल जब प्रवल होता है तो परमात्मा का नाम भी अधिक प्रभावशाली वन जाता है। उसके माहात्म्य से अग्नि का शान्त हो जाना कोई कठिन वात नहीं है।

भगवान् के स्मरण से अग्नि का शान्त हो जाना कोई अनोखी वात नहीं है। भारतीय साहित्य में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख है। सती सीता की कथा तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। सीता ने परमात्मा का स्मरण करके आग के कुंड में प्रवेश किया। दर्शकों के दिल दहल उठे। रामचन्द्र का हृदय वैठ गया! धाँय धाँय करके आग जल रही थी। उसकी ज्वालाएँ आकाश को स्पर्श कर रही थीं। आग की ओर देखना भी कठिन था। मगर सीता अनाकुल भाव से भगवान् का नामस्मरण करके उस धधकते कुंड में कूद पड़ी।

सारा वायुमण्डल वदल गया। दर्शकों के हृदय में उल्लास की लहरें उठने लगीं। लोग पुकार उठे—धन्य, सीते, धन्य हो! पतिव्रत की देवी, शील की साकार प्रतिमा, तुम्हारी जय हो, जय हो!

अग्नि का वह भयानक कुंड लहराता हुआ सरोवर बन गया। उसमें एक कमल और कमल पर सिंहासन बना दिखाई दिया। सती सीता उस सिंहासन पर गंभीर और शान्त भाव से आसीन थीं।

भाइयो ! जरा विचार करो। यह परिवर्त्तन अकस्मात् कैसे हो गया ? यह प्रभु के नामस्मरण का ही प्रभाव है।

अमरकुमार की कथा भी इसी प्रकार की है। अमरकुमार को सोने की मोहरों के लोभ में आकर उसके ब्राह्मण माता-पिता ने, बलिदान के निमित्त राजा को बेंच दिया। वह भक्त बालक था। पुरोहितों ने अपने मंत्र पढ़े और बालक को आग की लपलपाती ज्वालाओं में झौंक दिया। बालक ने णमोकार मंत्र का ध्यान किया और परमात्मा में अपना मन स्थिर किया। परिणाम यह निकला कि उसका आग में गिरना था कि उसी समय आग शान्त हो गई और ध्यानस्थ बालक सही-सलामत बाहर आ गया।

इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हमारे यहाँ शास्त्रों में उल्लिखित हैं। इन सब के प्रकाश में आचार्य के इस कथन को पढ़ा जायगा तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उसमें लेश मात्र भी अत्युक्ति नहीं है।

जिनके नामकीर्त्तन से दावानल भी शान्त हो जाता है, ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो ! इस बाहर की अग्नि से भी अधिक जबर्दस्त अग्नि तृष्णा की है। स्थूल अग्नि से तो स्थूल पदार्थ ही जलते हैं, परन्तु तृष्णा की आग में आत्मा भी जलती है। तृष्णा की आग व्यापक है। सारा संसार इस आग में जल रहा है। भगवान् के नामकीर्त्तन से वह आग भी शान्त हो जाती है।

एक आदमी विचार करता है—मेरे पास एक हजार रुपया हो जाय तो मैं सुखी हो जाऊँ। लेकिन जब उसके पास हजार की सम्पत्ति हो जाती है तब उसकी तृष्णा और बढ़ जाती है। वह सोचने लगता है—मेरे पास दस हजार रुपये हो जाएँ तो मैं सन्तोष धारण कर लूँगा। लेकिन इतने की पूर्त्ति हो जाने पर भी उसकी इच्छा तृप्त नहीं होती। वह लखपति बनना चाहता है। भाग्ययोग से लखपति बन गया तो करोड़पति बनने की अभिलाषा करने लगता है। इस प्रकार तृष्णा बढ़ती ही जाती है। उसका अन्त कहीं नहीं दिखाई देता। कहा है—

असुरसुरनराणां यो न भोगेषु तृप्तः,
कथमपि मनुजानां तस्य भोगेषु तृप्तिः।
जलनिधिजलपाने यो न जातो वितृष्णा—
स्तृणशिखरगताम्भः पानतः किं स तृप्येत् ॥

अनादिकाल से नाना योनियों में भ्रमण करता-करता यह जीव अनेक बार असुरेन्द्र भी हो चुका है और सुरेन्द्र भी हो चुका है। मगर उस पर्याय के भोग भोग चुकने पर भी तृप्त नहीं हुआ। जब देवलोक के दिव्य भोगोपभोग भी इसे तृप्ति न प्रदान कर सके तो मनुष्य के भोगों से उसे कैसे तृप्ति हो सकती है? देवलोक के भोगोपभोगों के सामने मनुष्य भव के भोग किस गणना में हैं? किसी महासागर की तुलना में एक बूंद की जो स्थिति है, वही स्वर्ग के भोगोपभोगों के सामने मानवीय भोगो की है।

उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—जो सागर का जल पी करके भी तृप्त नहीं हो सकता, वह तिनके की नौंक पर ठहरे हुए पानी के एक बूंद को पीकर क्या तृप्ति का अनुभव कर सकता है? कदापि नहीं।

तात्पर्य यह है कि तृष्णा की आग किसी भी स्थिति में शान्त नहीं होती। जैसे जलती हुई आग को बुझाने के लिए ईंधन डालना विपरीत प्रयास है, ऐसा करने से आग बुझती नहीं, उलटी बढ़ती है, इसी प्रकार भोगोपभोगों की सामग्री जुटाने से तृष्णा मिटती नहीं, बढ़ती है।

तृष्णा की आग में मनुष्य के सभी सद्गुण जल कर भस्म हो जाते हैं। तृष्णा के वशीभूत होकर मनुष्य किसी भी पाप का आचरण करने से नहीं रुकता। सच पूछिए तो तृष्णा सब पापों का मूल है। कहा है—

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा, नित्योद्वेगकरी स्मृता।
अधर्मबहुला चैव, घोरा पापानुबन्धिनी॥

अर्थात्—यह तृष्णा अत्यन्त पापिनी है। रात-दिन मनुष्य के हृदय में व्याकुलता उत्पन्न करती रहती है। अधर्म की जननी है, बड़ी ही भयानक और पाप कर्मों का बन्ध कराने वाली है।

हृदय में जब तक तृष्णा विद्यमान रहती है, मनुष्य कभी निराकुलता, और शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। तृष्णा बड़े से बड़े सम्पत्तिशाली को भी दरिद्र के समान दुखी बनाती है। कहा भी है—

को वा दरिद्रो हि? विशालतृष्णः।

प्रश्न किया गया—दुनिया में दरिद्र किसे समझा जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सम्पत्ति के अभाव से कोई दरिद्र नहीं होता, किन्तु जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, वही वास्तव में दरिद्र है, भले ही वह करोड़पति ही क्यों न हो! आशय यह है विपुल से विपुल सम्पत्ति का स्वामी होकर भी जो मनुष्य तृष्णा का शिकार

हो रहा है, लालच के फंदे में फँसा है और रातदिन सम्पदा के लिए दौड़धूप और हाय-हाय किया करता है, उसकी सम्पत्ति किसी प्रयोजन की नहीं। उसमें और दरिद्र में कुछ भी अंतर नहीं है। इसके विरुद्ध, जिसने तृष्णा पर विजय प्राप्त कर ली है और जो सन्तोष का अमृत पीकर नित्य तृप्त रहते हैं, वे निर्धन होने पर भी सुखी हैं, समृद्ध हैं। वे किसी के गुलाम नहीं, दुनिया ही उनकी गुलाम है। कहा है—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोकः ॥

अर्थात्-जो तृष्णा के दास हैं, वे सारे संसार के दास हैं और आशा को जिन्होंने दासी बना लिया है, उन्होंने सारे संसार को अपना दास बना लिया है!

अरे मानव ! तू अखिल लोक के वैभव को अपनी तिजोरी में कैद करके क्यों रखना चाहता है ? वह तेरे क्या काम आएगा ? तुझे पेट भरने के लिए चार रोटियाँ और सोने-बैठने को चार हाथ भूमि ही तो चाहिए ? इससे अधिक का क्या करेगा ? साथ तो कुछ ले नहीं जा सकता। फिर क्यों दिन--रात आकुल--व्याकुल बना रहता है ? तू शान्तचित्त होकर विचार कर कि तेरे पास जो साधनसामग्री है, वह तेरे लिए पर्याप्त है अथवा नहीं ? अगर पर्याप्त है तो सन्तोष धारण कर। सन्तोष ही सबसे बड़ा सुख है।

सन्तोषमूलं हि सुखं, दुःखमूलं विपर्ययः ।

सुख का मूल सन्तोष है और दुःख का मूल असन्तोष है।

तू चाहता है मैं अधिक सम्पत्तिशाली होकर सुखी बन

जाऊँगा। परन्तु यह तो देख ले कि जिनके पास अधिक सम्पत्ति है, वे क्या सुखी हैं ? नहीं। वे भी तो सुखी नहीं हैं। वे भी तेरी ही तरह तृष्णा की आग में जल रहे हैं। ऐसी अवस्था में तू कैसे सुखी हो जायगा ? सुख का असली साधन तो सन्तोष ही है। अतएव हे भव्य ! अगर तू वास्तव में ही सुखी बनना चाहता है तो सन्तोष धारण कर।

भाइयो ! जैसे आग को शान्त करने के लिए पानी अपेक्षित है, उसी प्रकार तृष्णा की आग को बुझाने के लिए सन्तोष धारण करने की आवश्यकता है। भगवान् ने फर्माया है कि परिग्रह को कम करोगे और अपनी इच्छा पर नियंत्रण करोगे तभी यह आग शान्त हो सकती है। इच्छाओं की पूर्त्ति करने का प्रयास करोगे तो यह आग शान्त होने के बदले बढ़ती ही चली जायगी।

तृष्णा की अग्नि को शान्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। वास्तविक स्थिति को समझे बिना कोई मनुष्य तृष्णा से मुक्त नहीं हो पाता। ज्ञान आत्मा का धर्म है। आत्मा को ही ज्ञान होता है। श्रीठाणांगसूत्र में भगवान ने आत्मा को सामान्य की अपेक्षा एक और विशेष की अपेक्षा अनेक कहा है। मगर यह न समझिए कि ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही सिद्धि प्राप्त हो जायगी। नहीं, प्राप्त ज्ञान के अनुसार क्रिया करने से सिद्धिलाभ होता है। कहा है:—

दोहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीइवएज्जा। तंजहा विज्जाए चेव, चरणेण चेव।

—श्रीठाणांगसूत्र, २ ठाणा.

भगवान् फर्माते हैं-हे गौतम ! दो स्थानों (गुणों) से सम्पन्न

अनगार अनादि, अनन्त और दीर्घ मार्ग वाले, चतुर्गति रूप संसार-अटवी को पार कर सकता है—ज्ञान से और चारित्र से।

भगवान् ने दो प्रकार का धर्म फरमाया है—अगारि धर्म और अनगार धर्म। जिसके घर है उसे अगारी अथवा गृहस्थ कहते हैं और जिसके घर नहीं है, जो घर का त्याग कर चुके हैं, वे अनगार कहलाते हैं। गृहस्थ का धर्म अलग है और अनगार अर्थात् साधु का धर्म अलग है। दोनों के धर्म में जो भिन्नता है, वह मात्रा की भिन्नता है। असल में तो जो अहिंसा और सत्य आदि साधु के लिए धर्म हैं, वही गृहस्थ के लिए भी हैं, परन्तु दोनों की कोटियाँ भिन्न-भिन्न हैं। साधु पूर्ण रूप से जिस धर्म का पालन करते हैं, उसी को गृहस्थ अपूर्ण रूप से, अपनी शक्ति और सुविधा के अनुसार पालते हैं। गृहस्थ जितने अंश में धर्म का पालन करते हैं, उतना अंश ही धर्म है।

जिसके घर है, वह क्या करता है? जो वस्तु मिल जाय उसी को घर में लाकर रख लेता है। छाने मिल गये तो छाने ही घर में रख लिये और लकड़ी, पत्थर, लोहा, गोबर आदि मिल गया तो वह उठा लाया। वह जानता है कि किसी वक्त यह पत्थर भी टेका लेने के काम आ जायगा। यह लोड़ी किसी समय मसाला पीसने के काम आ जाएगी। यहाँ तक कि वह फटे-पुराने कपड़े भी इकट्ठा करने से नहीं चूकता। रास्ते में किसी की रकम गिर जाय तो उसे भी उठा लेता है। वह ऐसा क्यों करता है? क्योंकि उसके घर हो गया है। उसने अपनी तृष्णा को जीत नहीं पाया है। अतएव प्रत्येक वस्तु उठा कर वह घर में ले जाता है।

इसके विपरीत, जो अनगार हैं, जिनके घर नहीं है, वे यह सोचते हैं कि हम ले जाकर कहाँ रक्खेंगे? प्रथम तो उन्होंने तृष्णा

को जीत लिया है और फिर इसी कारण वे वस्तुओं के संग्रह से विमुख हो गये हैं। ऐसे पूरे त्यागी अनगार हैं।

अनगार यों तो समस्त पदार्थों के त्यागी हैं, किन्तु धर्म स्थानक में भी ममत्व कर लेता है तो वह भी एक प्रकार का घर ही है। घर हो जाने पर उसमें शास्त्रों, पात्रों आदि का संग्रह शुरु हो जाता है। कहा है:—

आछा पातरा बांध धरे, वली टूटा फूटा में गोचरी करे।
बांध बूंध कर जावे विहारो, यो साधतणो नहीं आचारो ॥

जो साधु अच्छे- अच्छे और नये- नये पात्र तो सँभाल कर रख लेता है और टूटे -फूटे पात्रों में गोचरी करता है, समझ लीजिए कि उसकी ममता नष्ट नहीं हुई है--उसमें संग्रहबुद्धि बनी हुई है। वह अपने स्थानक में पाने, पोथी, शास्त्र और पात्र एवं वस्त्र इकट्ठे करता है। मरने के बाद कपड़ों के थान के थान और बढ़िया रंगे हुए पात्र निकलते हैं। यह साधुता की मर्यादा के विरुद्ध है। मगर जहाँ मकान खड़ा हो जाता है, वहाँ अनेक बखेड़े खड़े हो जाते हैं!

एक आर्याजी ने हमें सूयगडांग का बढ़िया लिखा हुआ पुट्ठा दिया। कहा -इसे आप रखिए। लेकिन मैंने सोचा--यह मेरे क्या काम आएगा? उलटा बोझ उठाना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि जहाँ घर है—फिर चाहे वह किसी भी नाम से क्यों न हो; वहाँ अड़ंगे खड़े हो ही जाते हैं। मगर मुनिराजों को इन सब बातों से बचना चाहिए। जब मौजूदा घर को स्वेच्छापूर्वक त्याग दिया, सम्पत्ति को ठुकरा कर साधुता स्वीकार कर ली और सिर मुंड़ा लिया तो फिर वस्त्रों और पात्रों पर ममता कैसी? अगर ममता बनी है, लालसा नहीं मिटी है, अन्तःकरण में आसक्ति जैसी की तैसी है, तो फिर वेषपरिवर्त्तन मात्र से क्या लाभ होगा?

वस्तुतः राग द्वेष का परित्याग करके आत्मा के स्वरूप में रमण करना चारित्र कहलाता है। चारित्र, सम्यक् चारित्र तभी होता है, जब वह सम्यग्ज्ञानपूर्वक हो अतः ज्ञान और चारित्र दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। इनमें से किसी भी एक के अभाव में सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। इसी कारण शास्त्र में कहा है कि विद्या और चारित्र से सम्पन्न अनगार ही संसार-अटवी को पार करते हैं। संसार--अटवी बहुत विशाल है। नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्य-गति और देवति रूप चार गतियाँ उसका स्वरूप हैं।

कोई मनुष्य गहन वन में फँस जाय तो उसके बाहर निकलने का उपाय क्या है? पहले तो उसे बाहर निकलने का सही मार्ग ज्ञात होना चाहिए। मार्ग का ज्ञान न होगा तो वह भटक जायगा, उलटी दिशा में चला जायगा और संभव है कि वह बाहर निकलने के बदले और अधिक उलझ जाय। पर ठीक रास्ता ज्ञात होने से ही पार नहीं हो सकेगा। उसे अपने ज्ञान के अनुसार गतिक्रिया भी करनी पड़ेगी। जो जानता सब कुछ है, किन्तु करता कुछ भी नहीं है, वह कैसे सफलता पा सकता है? ज्ञान के बिना क्रिया करना और ज्ञान होने पर भी क्रिया न करना--दोनों ही सफलता प्रदान करने वाले नहीं हैं।

'विद्या' शब्द 'विद् ज्ञाने' धातु से बना है। उसका अर्थ होता है-जानना। उदाहरणार्थ-आपने ज्ञान से जान लिया कि हिंसा करना दुःखदायी है। किन्तु इस जानकारी को अगर आप काम में नहीं लाते तो यह व्यर्थ ही है। इसी प्रकार आप यह तो जानते हैं कि झूठ बोलना बुरा है, किन्तु झूठ बोलते रहते हैं तो इस जानने को वास्तविक अर्थ में जानना नहीं कह सकते। सच्चा जानना तो वही जानना है जिसके अनुसार क्रिया भी की जाय।

अगर आपको यह ज्ञान हो जाय कि यहाँ साँप है और वह जहरीला है तो क्या आप उसके निकट जाएँगे ? या उससे दूर ही भागेंगे ? इसी प्रकार अगर आपने पाप को अकल्याणकारी समझ लिया है तो आप पाप के पास कैसे फटकेंगे ? आपको मालूम हो गया है कि चोरी करने से इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं तो उसे छोड़ ही देना चाहिए। चोरी को छोड़ दोगे तो जेलखाने की हवा नहीं खानी पड़ेगी। आप जानते हैं कि ब्लेक मार्केटिंग करना बुरा है, लेकिन उसे त्यागते नहीं तो फिर वह जानना किस काम का ? जान लिया कि व्यभिचार करना घोर अनर्थ का कारण है, फिर भी उसका त्याग न किया तो जानने का सार क्या निकला ? परिग्रह से आकुलता में वृद्धि होती है, आत्मा में मलीनता उत्पन्न होती है और अन्त में उसे छोड़ना ही पड़ता है, यह जानकर भी जिसने परिग्रह का त्याग न किया, उसके ज्ञान की कोई कीमत नहीं है। इसी अभिप्राय से कहा गया है:—

ज्ञानस्य फलं विरतिः।

अर्थात्—ज्ञान का फल चारित्र है। जिस ज्ञान ने त्याग-चारित्र-रूप फल को उत्पन्न न किया, वह निष्फल है। उसका होना और न होना समान है।

अभिप्राय यह है कि जब वास्तविक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब जीव में त्याग की भावना अवश्य उत्पन्न होती है। वह भावना जब चरितार्थ होती है अर्थात् क्रियात्मक रूप में अभिव्यक्त होती है तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जानते हो कि किवाड़ खुले रहेंगे तो अवश्य चोर घुस जाएँगे; फिर भी क्या किवाड़ बंद नहीं करेंगे ? अरे, तू कितना भी

होशियार होकर बैठेगा, लेकिन जरा भी नज़र इधर-उधर गई कि चीज़ गायब हो जायगी ? देखो, रेल में कितनी सावधानी रखते हो तो भी निगाह चूकी कि बटुआ गायब हो जाता है। मगर जान-बूझ कर भी मनुष्य गफ़लत में रहते हैं, तभी तो मनुष्य-जन्म को व्यर्थ गँवाते हैं! दुर्लभ मनुष्यदेह को निष्फल बना लेते हैं। कहा है-

जानूं जानूं कर रहा, चोर ले गया माल।

एक सेठ और सेठानी घर में सो रहे थे। इतने में चोर आये और दीवाल में छेद करने लगे। सेठानी ने सेठ से कहा—मालूम है चोर आया है।

सेठ—हाँ, मुझे पता है।

इतने में चोर छेद करके भीतर घुस आये और अलमारी का ताला तोड़कर जेवर का डिब्बा निकालने लगे।

सेठानी ने घबरा कर कहा—देखो, चोर जेवर निकाल रहे हैं।

सेठ—चुप रह, मैं सब जानता हूं।

चोर माल लेकर जाने लगे तो सेठानी से न रहा गया। उसने कहा--अजी, वह तो माल ले जा रहा हैं।

सेठ—मैं क्या देखता नहीं हूँ ? मुझे सब मालूम है।

सेठजी जानते रहे और चोर माल उठा ले गये। तब सेठानी ने कहा-तुम्हारा जानना किस काम का ? तुम्हारे जानने पर धूल पड़े !

एक वैद्यराज ने रोगी से कहा-देखो, इस दवाई पर खटाई मत खाना। रोगी ने कहा--जी हाँ, मुझे मालूम है कि इस दवा पर

खटाई नहीं खाई जाती। लेकिन घर जाकर वह रायते के कटोरे के कटोरे गटक जाता है। कहो भाइयो! इस रोगी के जानने की क्या सार्थकता है?

मनुष्य कहता है-मैं धर्म को जानता हूँ; फिर भी कभी सामायिक नहीं करता, पौषध नहीं करता, शीलव्रत का पालन नहीं करता, दान नहीं देता, रात्रिभोजन का त्याग नहीं करता; और कह रहा है कि मैं तो सब कुछ जानता हूँ! जैसे वह सेठानी सेठ की जानकारी पर धूल डालती है, उसी प्रकार ऐसे मनुष्यों की जानकारी पर धूल पड़ी समझो! जो जान कर भी क्रिया नहीं करता, वह जानना बेकार सिद्ध होता है। सब जानते हैं कि दही में मक्खन है, लेकिन जबतक बिलौने वगैरह की क्रिया नहीं की जायगी, तब तक उसमें से मक्खन निकलेगा कैसे? कहा है:—

कोरी कोरी मटकी में दही रे जमायो,
माखण नहीं निकसे, जिया! बिन धुमके से।
क्यों भटके रे जिया! तेरा प्रभु तू ही है ॥ १ ॥

हे मनुष्य! कोरी मटकी में दही तो जमा दिया और यह भी मालूम हो गया कि दही में से मक्खन निकलता है, लेकिन जब तक उसे दोनों हाथों से विलोयेगा नहीं, तबतक उसमें से मक्खन निकल सकता है? कदापि नहीं। मक्खन तो पुरुषार्थ करने से ही निकलेगा। और भी—

जैसे घुंघरू पहने पायन में,
राग नहीं निकसे जिया बिन ठुमके से ॥ २ ॥

दोनों पाँवों में घुंघरू बाँध लिये और बैठ गया। अब

विचार करता है कि इनमें से राग क्यों नहीं निकलता ? मगर अरे मूर्ख ! जब तक खड़ा होकर तू कूदेगा फाँदेगा नहीं, तब तक राग कैसे निकलेगा ?

जैसे रे सांठा लियो हाथन में,
रस नहीं निकसे जिया ! बिना चुसके से ॥ ३ ॥

हाथ में सांठा तो ले लिया, मगर उसमें से रस बिना चूसे तो नहीं निकल सकता ! चूसने से ही रस निकलता है। इसी प्रकार याद रक्खो, आत्मा को मुक्ति तो प्राप्त हो सकती है, किन्तु करनी के बिना मोक्ष नहीं मिल सकती।

मिट्टी में धातु है। उसमें से सोना, लोहा, पीतल वगैरह निकलता है। किन्तु अपने आप तो कुछ निकल नहीं सकता ! मिह-नत करनी होगी। क्रिया करने से ही धातु निकलेगी।

निठल्ले बैठने से काम नहीं चलता भाई ! ज्ञानपूर्वक क्रिया करने से ही काम बनता है। जिन महापुरुषों ने छह खंड का राज्य त्याग कर साधुपन लिया और चारित्र का पालन किया, आत्मा का मंथन किया, उन्हीं का प्रयोजन सिद्ध हुआ। जिन्होंने तपस्या की आग में अपने शरीर को झोंक दिया, मुक्त हस्त से दान दिया और समभाव का गहरा अभ्यास किया तथा दूसरी क्रियाएँ की, उन्हीं का नाम आज दुनिया गा रही है।

किसान खेत को जोत कर तैयार करेगा और उचित समय पर गेहूँ बोएगा, तभी उसे गाड़ियाँ भर कर अनाज मिलेगा और उसके बाल बच्चे साल भर पलेंगे।

इस प्रकार थोथी बातें करके सफलता चाहने वाले पागल

हैं। जो जानना-जानना कहते हैं, लेकिन करनी नहीं करते, समझना चाहिए कि अभी तक उन्हें कोई सद्गुरु नहीं मिले हैं। कहा है—

हाँ मुझे सद्गुरु समझायो, वक्त अमोलक तू ने पायो।
बोधि बीज कर दान मेरो मिथ्यात्व हटायो रे ! ॥ टेर ॥

बलिहारी है उन गुरु महाराज की, जिन्होंने निःस्वार्थ बुद्धि से ज्ञान प्रदान किया है कि देखो भाई, यह अनमोल अवसर प्राप्त हुआ है। जिन्होंने सम्यक्त्व रूपी रत्न का दान दिया है, जिससे जन्म-मरण की यातनाओं का अन्त आ जाएगा। सद्गुरु की महिमा का वखान नहीं हो सकता। उनका उपकार असीम है। सद्गुरु के प्रसाद के विना न तो कोई तिरा है और न तिरेगा ही।

कहा जा सकता है कि तीर्थङ्कर किसी को गुरु नहीं बनाते, फिर भी वे तिर जाते हैं तो दूसरे क्यों नहीं तिर सकते ? मगर ऐसा समझना भ्रमपूर्ण है। तीर्थङ्कर ने इस जन्म में गुरु नहीं वनाया तो क्या हुआ ? पूर्वभव में वे गुरु वना कर आये हैं और उन गुरु की कृपा से इस भव में उन्होंने उच्च कोटि की आत्मिक विशुद्धि प्राप्त की है। वे अपूर्व ज्ञानदीपक लेकर आये हैं। उनका समकित-रत्न भी अपूर्व आभा से दीप्त होता है। उन्होंने सद्गुरु के संयोग से दिव्य दीपक प्राप्त किया। काल करके स्वर्ग में देवता बने। वहाँ भी वह दीपक जगमगाता रहा। श्रेणिक जैसे कोई नरक में गये तो वहाँ भी वह दीपक जगमगा रहा है। यह सब सद्गुरु का ही प्रताप है। इसीलिए कहा है:—

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

अर्थात्—अज्ञान रूपी अंधकार से अंधे जीवों को ज्ञान रूपी

अंजन की सलाई आंज कर सूझता बनाने वाले श्रीगुरु महाराज को नमस्कार हो और भी कहा है:—

विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो,
जानाति तत्त्वं न विचक्षणोऽपि ।
आकर्णदीर्घायितलोचनोऽपि,
दीपं विना पश्यति नान्धकारे ॥

कोई मनुष्य कितना ही कुशल क्यों न हो, जब तक वह गुणों के सागर गुरु महाराज की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक उसे तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। जब चारों ओर घोर अंधकार छाया हो तब मनुष्य दीपक की सहायता लिये बिना नहीं देख सकता, चाहे उसके नेत्र कितने ही बड़े क्यों न हों ! कानों तक लम्बे नेत्र होने पर भी उसे दीपक का आश्रय लेना ही पड़ेगा। इसी प्रकार बड़े से बड़े बुद्धिमान् को भी गुरु की शरण लेनी ही पड़ेगी।

वैष्णव ग्रन्थों में कहा है:—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महादेव हैं और गुरु ही साक्षात् परम ब्रह्म हैं। उन श्रीगुरु को नमस्कार हो।

भाइयो ! जिस गुरु-पद को इतना महान् गौरव दिया गया है, जिसे देव कोटि में रख दिया गया है, वह गुरु कैसा होना चाहिए ? कहा है—

महाव्रतधरा धीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥

अर्थात्—गुरु का सब से पहला लक्षण यह है कि वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप महाव्रतों का अस्खलित रूप से पालन करता हो। फिर कठिन से कठिन कष्ट-परीपह और उपसर्ग आने पर भी अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन न करे। सब प्रकार के संकटों को सहन करता हुआ भी अपने संयम पर दृढ़ रहे। अपने जीवन-निर्वाह के लिए दुनियादारी की खटपट में न पड़े, वल्कि भिक्षा से अपना निर्वाह करे। सदैव राग द्वेष से मुक्त रहकर समभाव में स्थिर रहे। जगत् के अज्ञान एवं भ्रान्त जीवों को धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग वतलाता हो। वही सच्चे गुरुपद का अधिकारी है।

जिसमें इस प्रकार की विशेपताएँ नहीं हैं, जो कामनाओं के क्रीत दास हैं, आहार-विहार में मर्यादाशील नहीं हैं, लोभी लालची हैं, ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, केवल साधु का वेप बनाकर जगत् को ठगते फिरते हैं, वे गुरु नहीं हैं। यथा—

सर्वाभिलापिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न ते॥

जिन्होंने अपने अन्तःकरण पर लेश मात्र भी नियंत्रण नहीं किया है, जो अभिलापाओं की आग में झुलस रहे हैं, जिनके खान-पान का कोई ठिकाना नहीं है, निमंत्रण पाकर भोजन करने जाते हैं, अपने निमित्त से वना भोजन करने से परहेज नहीं करते, जो परि-ग्रह के धारक हैं, ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं करते और जनसमूह को मिथ्या उपदेश देकर गलत राह वतलाते हैं; इस प्रकार स्वयं नष्ट हुए और दूसरों का भी नाश करते हैं, वे गुरु कह-लाने योग्य नहीं हैं।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि—

गुरु किया जाय ऐसे जन को, जो गुरुता का अधिकारी हो।

तात्पर्य यह है कि गुरु वही होता है जो उच्च कोटि के ज्ञान और उच्चकोटि के संयम से सम्पन्न हो। शास्त्र में ज्ञान के साथ चारित्र को भी बहुत महत्त्व दिया गया है।

कोई मुनि आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग आदि सूत्रों का ज्ञाता हो, किन्तु कालान्तर में स्मृतिदोष से इनमें से एकाध सूत्र को भूल जाय तो उसे दण्ड नहीं आता, किन्तु यदि प्रतिलेखन करना भूल जाय या उसमें गलती करे तो अवश्य ही दंड का पात्र होता है। साधु कदाचित् ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाय तो वह साधुता से खारिज हो जाता है। उसे नये सिर से साधु बनना पड़ता है। साधु के लिए शील पालने पर इतना जोर दिया गया है कि फाँसी लगा कर मर जाना श्रेयस्कर है, किन्तु शीलधर्म को भंग करना उचित नहीं है।

भगवान् महावीर के मार्ग में चारित्र पर इतना अधिक जोर दिया गया है। जो ठीक तरह भगवान् द्वारा उपदिष्ट आचार का पालन करता है, वही वास्तव में सद्गुरु है।

इससे स्पष्ट हो गया कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान और चारित्र दोनों आवश्यक हैं। कहा भी है—

ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।

न अकेले ज्ञान से मोक्ष होता है और न अकेली क्रिया से। जब दोनों का समन्वय होता है और दोनों पूर्णता पर पहुँचते हैं, तभी आत्मा को मोक्ष मिलता है। क्योंकि—

एक पर से पक्षी नहीं उड़ता,

एक चक्र से रथ नहीं चलता।

अंधा-पंगु मिले स्थान इच्छित तब पायोरे ॥ १ ॥

एक पंख से पक्षी कदापि नहीं उड़ सकता और न एक पहिये से रथ ही चल सकता है। इसी प्रकार अकेले ज्ञान या अकेले चारित्र से मोक्ष नहीं हो सकता। अकेला चारित्र अंधा है और अकेला ज्ञान पंगु है। अंधा और पंगु दोनों मिल कर इष्ट स्थान पर पहुँच सकते हैं, अकेले-अकेले नहीं। ज्ञान और चारित्र के दोनों पंखों का सहारा लेकर ही जीव ऊर्ध्वगति करके मुक्ति के लोक में पहुँ-चता है।

भाइयो ! आप लोग कौन हैं ? आप जन हैं और जन से पहले दो अक्षर जोड़ दिये जाएँ तो 'महाजन' हो जाते हैं। जन का अर्थ होता है मनुष्य और महाजन का अर्थ हो गया-बड़े मनुष्य।

जब कोई भी जन महाजन कहलाता है तो उसमें साधारण जन की अपेक्षा कोई न कोई विशेषता होनी चाहिए। वह विशेषता रूप-रंग या आकृति में नहीं होती, किन्तु कर्त्तव्य में होती है। जिसके कर्त्तव्य महान् हैं, जिसके जीवन में चारित्र की विशेषता है, वही महाजन पद का अधिकारी है।

क्या महाजन वह है जो दूसरों को ठगे ? विश्वासघात और बेईमानी करे ? नहीं। मगर आज के रंगढंग तो ऐसे ही दिखाई देते हैं।

भाइयो ! पहले लोग आपको कहते थे—सेठां। और आज कहते हैं हेठां ! क्या आप सेठां और हेठां का अन्तर समझते हैं ?

अगर समझते हों तो सेठां पदवी को वास्तविक बनाने का प्रयत्न करो। 'सेठ' शब्द 'श्रेष्ठ' का अपभ्रंश है और 'हेठ' शब्द नीच का वाचक है। आप श्रेष्ठ व्यवहार करके श्रेष्ठ बनने का प्रयास कीजिए और आपकी श्रेष्ठता को गिराने वाली जो बुराईयाँ हैं, उन्हें त्याग दीजिए। कहा है—

जजा के जतना में करयो श्री जिनवर,
जैन बिना फैन हिंसा धर्म न होय रे।
जैन में जनम लियो महाजन नाम दियो,
नीच नीच काम कियो गयो कुल खोय रे।
जयणा कीवी सुसलिया की जयणा कीधी परेवा की,
जयणा कीधी धर्मरुचि नेमि जिन जोय रे।
रिख लालचंद कहे जयणा करे घन सोय,
जयणा बिना जग सहु रीतो गयो रोय रे॥

देखो, भगवान् ने यतना में धर्म बतलाया है। जीवों की रक्षा करना, पानी बिना छाना नहीं पीना, व्यापार में बेईमानी, और ठगाई न करना, उसमें भी जीवहिंसा से बचना, यह सब यतना के रूप हैं।

कई लोग ऊँचे भाव आने की लालच में माल को इकट्ठा कर रखते हैं। धान्य को कोठों में भर लेते हैं, फिर भले ही वह धान्य सड़ जाय, गल जाय और घुन कर खाने योग्य भी न रह जाय! ऐसा करने से अन्न खराब होता है और जीवों की हिंसा होती है। धर्म का ज्ञाता व्यापार करेगा तो ऐसी बातों का अवश्य ही ध्यान रक्खेगा। वह लोभ—लालच के चक्कर में पड़ कर धर्म से विमुख नहीं होगा। विवेकवान् गृहस्थ अर्थ—पुरुषार्थ की साधना

करता है, मगर धर्म को भंग करके नहीं। वह धर्म के साथ ही अर्थ को उपार्जन करता है।

जैन कुल में जन्म लिया, महाजन की पदवी पाई और काम देखो तो मच्छी पकड़ने के कांटों का, चूहे पकड़ने के पींजरों का या कांदा और लहसुन बेचने का व्यापार करते हैं! ऐसे लोगों को महाजन कहा जाय या महाजम? देखो, खरगोश के प्राणों की रक्षा करने वाला हाथी अपनी आयु पूर्ण करके राजा श्रेणिक के घर राजकुमार बना और उसने अन्त में संयम ग्रहण करके अपनी आत्मा का परम कल्याण किया।

धर्मरुचि अनगार ने कीड़ियों की रक्षा की तो सर्वार्थसिद्ध विमान में गये। बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने पशुओं पर दया की, उनकी रक्षा की तो राजीमती का परित्याग करके गिरनार पर्वत पर पहुँचे और मुक्त हुए।

इस प्रकार जिन-जिन महापुरुषों ने ज्ञान और चारित्र का आश्रय लिया, वे सब कल्याण के भाजन बने। कहा भी है:—

संजोगसिद्धिं सफलं वयन्ति, न हु एगचक्केण रहं पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, तेसिं पहुत्ता नगरे पविट्ठा॥

यहाँ बतलाया गया है कि ज्ञान और चारित्र के संयोग से ही सिद्धि प्राप्त होती है। वन में दावानल सुलग रहा है। एक अंधा और एक लँगड़ा उसमें फँस गया है। दोनों दावानल से बच कर सकुशल अपने घर पहुँचने में समर्थ नहीं हैं। अंधा देखने में असमर्थ है। वह दावानल से बचने के प्रयास में दावानल की ओर ही जाकर भस्म हो जायगा। पंगु बचने का मार्ग जानता है परन्तु चल नहीं सकता। वह देखता-देखता भस्म हो जायगा।

लेकिन दोनों ने मिलकर विचार किया—पंगु, अंधे के कंधे पर बैठ जाय और अंधे को रास्ता बतलाता जाय, अंधा उसे लेकर चले तो दोनों बच सकते हैं। इस प्रकार संयुक्त होकर क्रिया करने से दोनों बच गये।

तो जिसे ज्ञान नहीं है, जिसने श्रुत का अभ्यास नहीं किया है, तत्त्व के स्वरूप को नहीं जाना है, वह अंधे के समान है। और जिसे ज्ञान तो है किन्तु जो चारित्र से हीन है, वह पंगु के समान है। जब तक ज्ञान और चारित्र न्यारे-न्यारे रहेंगे, तब तक वे आत्मा को सिद्धि प्रदान करने में असमर्थ हैं। हाँ, जब दोनों का संयोग होगा, तब सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी। कहा है—

कर्मोदय शुभ भावना भावे, हर्ष विषाद जरा नहीं लावे।
नया बंध नहीं होय, अन्त कर्मों को आवे रे॥

भाइयो! जिसने जैसे कर्मों का बन्ध किया है, अबाधा काल समाप्त होने पर वह परिपाक में आते हैं। यदि अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है तो उनका फल अशुभ होगा। बुखार चढ़ आना, ठोकर लग जाना या और कोई अप्रिय घटना घटित हो जाना अशुभ कर्मों का फल है। अकस्मात् धन की प्राप्ति हो जाना, मनचाहे पदार्थों का संयोग मिल जाना, सुशील सन्तान का होना, आदि शुभ कर्मों फल है। चाहे शुभ कर्मों का उदय हो, चाहे अशुभ कर्मों का, दोनों आपके ही बाँधे हुए हैं। आपके द्वारा बाँधे कर्म ही आपको फल देते हैं। इन कर्मों का फल भोगते समय प्राणी को कैसी भावना रखनी चाहिए? ज्ञानी पुरुषों का आदेश है कि शुभाशुभ कर्मों का फल भोगते समय समभाव रखना चाहिए। राग और द्वेष से बचना चाहिए। दुःख आ जाय तो विचार करे कि यह कर्म तेरे ही

बाँधे हुए हैं ! तूने ही दुःख का बीज बोया है। अब उसके फल मिलने पर क्यों व्याकुल होता है ? क्यों विषमभाव धारण करता है ? तू विषमभाव धारण करेगा, रोएगा, हाय-हाय करेगा, तो भी दुःखों से बच नहीं सकेगा। हाँ, फिर नये सिरे से अशुभ कर्मों का बंध कर लेगा।

इसी प्रकार शुभ कर्मों का उदय आने पर फूलना नहीं चाहिए। राग-भाव नहीं धारण करना चाहिए। सोचना चाहिए कि कर्मों का यह उदय सदा रहने वाला नहीं है।

इस प्रकार कर्मोदय के समय समभाव रखने से नवीन कर्मों का बंध नहीं होता और पुराने कर्म धीरे-धीरे क्षय हो जाते हैं। कर्मों के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है।

कर्मों का उदय बड़ा ही विचित्र और बलवान होता है। शुभ कर्म का उदय आया तो गजसुकुमार श्रीकृष्णजी के भाई बने और जब अशुभ कर्मों की प्रबलता हुई तो आग के दहकते अंगार उनके मस्तक पर रक्खे गये। किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में उन्होंने अपनी अन्तरात्मा को विषमभाव से अभिभूत नहीं होने दिया। परिणाम यह आया कि वे अनन्त अव्याबाध सुख के अधिकारी बने।

होनी को कोई मुख्य बतावे, पुरुषार्थ क्यों करे करावे।
कहे और करे और व्यर्थ ही द्वन्द्व मचायो रे ॥

कई लोग यही समझ कर बैठे हैं कि जो होना होगा सो हो होगा। हमारे किये कुछ नहीं हो सकता। ऐसे लोग भोजन क्यों करते हैं ? कौर मुँह में क्यों डालते हैं ? गले में क्यों उतारते हैं ?

अगर भूख मिटनी होगी तो आप ही मिट जाएगी। रोटी बनाना खाना आदि तो हे चेतन ! बिना पुरुषार्थ के नहीं होता। फिर होनहार ही कैसे रही ?

अगर होनी होगी सो ही होगी तो यह बाजार क्यों खुलते हैं ? शाम को घर आते समय दुकान में ताले क्यों डाले जाते हैं ? गाय-भैंस को खूंटे से बाँधने की भी क्या आवश्यकता है ? होना होगा सो हो जाएगा !

वास्तव में ऐसे लोग कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। उनकी कथनी और करनी में बहुत अन्तर है। बात तो मानों चौदहवें गुणस्थान की कहते हैं और काम पहले गुणस्थान के करते हैं। ये लोक गलत राह पर चल रहे हैं। वे केवल वाचिक द्वन्द्व कर रहे हैं।

क्रिया बिन कर्म नहीं बंधता, बोये बिन खेत नहीं पकता।
चौथमल कहे जिन आगम में, यों फरमायो रे ॥

देखो भाई, क्रिया के बिना कर्म का बंध नहीं होता। मन, वचन या काय का व्यापार रूप क्रिया होने पर ही कर्मबंध होता है। इस क्रिया के बिना भी कर्म का बन्ध होने लगे तो मोक्ष में विराजमान सिद्ध भगवान् को भी कर्म का बंध हो ! लेकिन खेत में बीज डाला जायगा तभी फसल तैयार होगी। बिना बोये जो फसल की आशा करते हैं, वे आसमान के फूल तोड़ने की आशा करते हैं। अतएव भवितव्य के भरोसे मत रहो। ज्ञानपूर्वक क्रिया करो। तभी सिद्धि प्राप्त होगी।

भाइयो ! जो भव्य जीव सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सम्पन्न होकर परम प्रभु आदिनाथ के पावन नाम का संकीर्त्तन करते

हैं और उन्हीं को अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं, वे तृष्णा की आग को शान्त कर देते हैं और परम शीतीभूत होकर अखण्ड आनन्द का अनुभव करते हैं। सारी प्रकृति उनकी दासी बन जाती है। अतएव आप अपना मंगल चाहते हैं तो भगवान् की शरण गहो। आनन्द ही आनन्द होगा!

७-११-४७.

पुण्यात्मा की पहचान
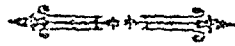
स्तुतिः—

> स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
>
> नान्या सुतं त्वदुपं जननी प्रसूता ।
>
> सर्वा दिशो दधति भानिसहस्ररश्मिं,
>
> प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवान् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

यहाँ आचार्य महाराज ने भगवान् की स्तुति करते हुए उनकी जननी भगवती मरुदेवी मातेश्वरी की भी प्रशंसा की है। आचार्य कहते हैं—संसार में हजारों-लाखों स्त्रियाँ हैं और उनके हजारों-लाखों ही पुत्र हैं; मगर मरुदेवी माता ने जैसे पुत्ररत्न को जन्म

दिया, वैसे पुत्र को जन्म देने वाली माता उस समय दूसरी नहीं है। जब किसी घर में पुत्र का जन्म होता है तो पड़ौसियों को भी पता नहीं चलता कि यहाँ पुत्र-जन्म हुआ है । मगर मरुदेवी के उदर से पुत्र का जन्म होते ही तीनों लोकों में धूमधाम मच गई । निरन्तर अतिशय भीषण वेदना सहते रहने वाले नरक के जीवों को भी क्षण भर शान्ति का अनुभव हुआ । देवलोक में भी चहलपहल आरंभ हो गई । इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो उठे । उन्होंने समझ लिया कि प्रथम तीर्थङ्कर देव का जन्म हुआ है । वे धूमधाम के साथ मध्यलोक में आये । माता को मोहमयी निद्रा में सुलाकर भगवान् को उठाकर ले गये । मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक किया । उनकी स्तुति की और बड़ा हर्ष मनाते हुए जन्मोत्सव मनाया ।

यहाँ के आनन्द और उल्लास का भी क्या पूछना है ? सारी प्रकृति ने परम सौम्य रूप धारण कर लिया था । शीतल, मन्द और सुगंधित वायु बहने लगी थी । गगन निर्मल और निरभ्र था । प्रकृति का रूप उल्लासमय प्रतीत हो रहा ।

महाराज नाभि के हर्ष का पार नहीं था । जनता अपूर्व आनन्द में मग्न थी । मंगल-वाद्य बज रहे थे । सर्वत्र आनन्द और उत्साह की धूम थी ।

रात्रि के समय जिधर देखो उधर ही तारे चम-चम करते चमकते हैं । पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में कितने तारे चमकने लगते हैं ? कोई हिसाब नहीं, कोई गिनती नहीं ! फिर भी रहती है रात्रि ही ! लेकिन प्रातःकाल एक सूर्य का उदय होते ही अंधकार-विराट और सघन अंधकार भी पल भर में न जाने कहाँ विलीन हो जाता है ! इस सूर्य को जन्म देने वाली पूर्व दिशा

ही है पूर्व दिशा के सिवाय किसी अन्य दिशा ने आज तक सूर्य को जन्म नहीं दिया। इसी प्रकार नक्षत्रों के समान पुत्रों का प्रसव करने वाली माताएँ तो अनेक हैं, परन्तु सूर्य के सदृश पुत्र को जन्म देने वाली माता मरुदेवी ही हैं !

तारों में और सूर्य में जितना अन्तर है, पुरुष-पुरुष में भी उतना ही अन्तर होता है। मंगल, शनि, बुध, गुरु आदि-आदि नव ग्रह हैं। इनके परिवार की हम गणना नहीं कर सकते। फिर भी, सब के सब मिल कर भी रात्रि को मिटाकर दिन बनाने में समर्थ नहीं हो सकते। मगर सूर्य में स्वाभाविक रूप से वह तेजस्विता है कि अंधकार टिक ही नहीं सकता। सारे विश्व को वह अपने प्रकाश-पुंज से व्याप्त कर देता है। भगवान् ऋषभदेव सूर्य के समान तेजस्वी थे। उन्होंने जगत् के अज्ञान-अन्धकार का निवारण कर ज्ञान का प्रकाश फैलाया।

मरुदेवी माता ऋषभ जैसे असाधारण पुत्र को जन्म देकर धन्य हो गई। वास्तव में वही माता धन्य और पुत्रवती कहलाती है, जो विशिष्ट गुणवान् पुत्र को जन्म देती है। कहा है—

गुणिगणगणनारम्भे, न पतति कठिनी सुसम्भ्रमाद्यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी, वद वन्ध्या कीदृशी नाम ?

अर्थात्—गुणीजनों को गिनती करते समय पहले पहल जिस पर अंगुली नहीं गिरती-जो पहले पहल नहीं गिना जाता, ऐसे पुत्र को जन्म देने वाली माता मगर पुत्रवती गिनी जाय तो वन्ध्या किसे माना जाएगा ? तात्पर्य यह है कि सच्ची पुत्रवती माता वही है जिसका पुत्र गुणीजनों में अग्रगण्य होता है।

जो पुत्र उत्पन्न होकर अपने कुल की कीर्त्ति में चार चांद

नहीं लगाता, जो अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा में वृद्धि नहीं करता जो परिवार का आधारभूत होकर नहीं रहता, जिसके द्वारा देश का और जाति का कोई हित नहीं सधता, जिसके द्वारा जगत् का कोई उपकार नहीं होता और जो स्वयं उच्च और पवित्र जीवन बना कर दूसरों के लिए आदर्श नहीं बनता, वास्तव में उसका जन्म लेना निरर्थक है। कहा भी है:—

असारे खलु संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन, वंशो याति समुन्नतिम् ॥

इस असार संसार में कौन जन्म नहीं लेता और कौन नहीं मरता? संसार के समस्त प्राणी जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए हैं। किन्तु जन्म लेना उसी का सफल है, जिसके जन्म से वंश की उन्नति होती है। जो अपने वंश को ऊँचा उठाता है, उसका जन्म धन्य है!

जगन्माता मरूदेवो ने ऐसे महान् पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया कि जिसने उनके नाम को अमर कर दिया। माता-पिता, पुत्र की अभिलाषा इसीलिए करते हैं कि वे शरीर से तो अमर रह नहीं सकते, अतएव सन्तति के रूप में अमर रहें। मगर संसार में कितने सपूत हैं ऐसे जो अपने माता-पिता को अमर बनाते हों? विरले ही ऐसे होते हैं। भगवान् ऋषभदेव ऐसे ही पुत्र थे। उन्होंने जगत् का महान् उपकार किया। कल्पवृक्षों ने जब फल देना बंद कर दिया और तत्कालीन मानवजाति की प्राणरक्षा घोर संकट में पड़ गई, उस समय अपने जन्मजात विशिष्ट ज्ञान का उपयोग करके उन्होंने मनुष्यों को कृषि आदि कलाओं की शिक्षा दी और उस घोर संकट का निवारण कर दिया।

तत्पश्चात् स्वयं गृह का परित्याग करके दीर्घकाल तक तपश्चर्या की। छह माह का अनशन तप किया और छह महीने तक साधुधर्म की विधि के अनुसार निर्दोष आहार न मिलने के कारण निराहार रहे। इस प्रकार एक वर्ष के बाद पारणा हुआ। फिर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। अन्त में अपने निन्न्यानवे पुत्रों और आठ पौत्रों के साथ निर्वाण प्राप्त किया। एक ही समय में १०८ सिद्ध हुए।

ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा वार-वार नमस्कार हो!

भाइयो! गृहस्थ मात्र की यह अभिलाषा होती है कि हमारा पूत सपूत सिद्ध हो और हमारी कीर्ति-कौमुदी को विश्वव्यापिनी बनावे। परन्तु सब की अभिलाषा पूरी नहीं होती। लोक में कहते हैं—एक बेटा होता है, एक घेटा होता है और एक थेटा होता है। इनमें बेटा वही है जो जिस कुल में जन्मे, उस कुल में उद्योत कर दे। यही नहीं, जिस जाति में जन्म ले, उसी जाति का नाम भी उसके नाम पर प्रचलित हो जाय, गाँव का नाम भी उसीके नाम पर चल पड़े!

ऐसा सद्गुणी बेटा एक ही हो तो बस है। बेटों की फौज खड़ी होने से ही कोई लाभ नहीं होता। धृतराष्ट्र के सौ बेटे थे जो कौरवों के नाम से प्रसिद्ध हैं। मगर उनसे माता-पिता को क्या लाभ पहुँचा? कुल को क्या फायदा हुआ? वे कुल के लिए अंगार सिद्ध हुए। उनके दुराग्रह और दुष्ट स्वभाव के कारण कुल का नाश हो गया और बूढ़े अन्धे धृतराष्ट्र एवं गन्धारी को अन्त समय में घोरतम सन्ताप सहन करना पड़ा। ऐसे पुत्रों से कोई लाभ नहीं है। पुत्र हो तो ऐसा हो जो माता-पिता को अन्तिम समय में शान्ति और सुख पहुँचा सके!

नीतिकार कहते हैं:—

एकेन राजहंसेन, या शोभा सरसो भवेत् ।
न सा बकसहस्रेण, परितस्तीरवासिना ॥

एक ही राजहंस सरोवर की जितनी शोभा बढ़ाता है, उतनी चारों ओर से सरोवर को घेरने वाले हजारों बगुले भी नहीं बढ़ा सकते ! इसी प्रकार एक सुपुत्र कुल की शोभा में वृद्धि करता है, हजारों कपूत ऐसा नहीं कर सकते।

एक ही बेटा जन्मे, लेकिन वह यदि विद्या और साधुता के गुण से परिपूर्ण हो तो वह एक ही भला है। जिस घर में ऐसे पुत्र का जन्म होता है उस घर के सब लोगों में तो आनन्द हो ही जाता है, लेकिन दूसरे लोगों को भी आनन्द होता है।

रात्रि में चन्द्रमा का उदय होता है तो रात्रि कितनी सुहावनी हो जाती है ? चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश का विस्तार हो जाता है। इसी प्रकार पुण्यवान् पुत्र के जन्म से कुल में प्रकाश उत्पन्न हो जाता है।

देखो, गधी के कितने गधेड़े उत्पन्न होते हैं, मगर उसका लदना नहीं छूटता, इसी प्रकार अनेक पुत्र उत्पन्न हो गए किन्तु माता पिता का भार हल्का न हुआ तो उनके उत्पन्न होने से क्या लाभ हुआ ?

एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम् ।
गर्दभी दशपुत्रैश्च, भारं वहति सर्वदा ॥

सिंहनी एक ही पुत्र को जन्म देती है, परन्तु वह पुत्र ऐसा पराक्रमी और बलवान् होता है कि उसकी बदौलत वह निर्भय सोती

है। मगर गधी एक नहीं, दस पुत्रों को जन्म देकर भी जब तक मर नहीं जाती तब तक लदती ही रहती है।

पुण्यवान् पुत्र माता, पिता, परिवार और मुहल्ले वालों को तथा ग्राम एवं देश को भी दिपा देता है। मगर वह दिपाता कब है? जब पुण्य लेकर आया हो! जो पूर्वजन्म में चोरी करके या पराई स्त्री उड़ा कर आया है, वह क्या पुण्यवान् होकर जन्मेगा? नहीं। जो दान, शील तप और भावना रूप चतुर्विध धर्म की आराधना करके आया होगा और सब जीवों को साता पहुँचा कर आया होगा वही पुण्यवान् कहलाएगा। जो चोरी के संस्कार ले कर आया होगा, वह इस जन्म में भी जेलखाने की हवा खाएगा। सरकार उसे पैरों में लंगर नहीं पहनाएगी, बल्कि बेड़ियाँ पहनाएगी। इसके विपरीत पुण्यवान् पुत्र सद्बुद्धि से सम्पन्न होगा और अपने सदाचार का सौरभ प्रसारित करेगा। उसकी प्रशंसा होगी। जहाँ कहीं वह कदम रक्खेगा, वहीं आदर और सन्मान का भाजन बनेगा।

पुण्यवान और पापी में एक बड़ा अन्तर यह है कि पुण्यवान की समस्त शक्तियाँ सत्कार्य में प्रयुक्त होती हैं और पापी की प्रत्येक शक्ति असत्कार्य में लगती है। पुण्यात्मा के पास धन-सम्पदा होगी तो उससे गरीबों की सहायता करेगा। अनाथालय को दान देकर अनाथों के जीवन निर्माण में योग देगा। शिक्षा संस्थाओं को द्रव्य का दान देगा और ज्ञान का प्रसार करने में सहायक बनेगा। धर्म और समाज के कल्याण के लिए सत्साहित्य का प्रचार करेगा। इसी प्रकार के अन्यान्य परोपकार के कार्य करके अपने धन का सद्व्यय करेगा।

पुण्यवान् यदि विद्वान् होगा तो वह अपनी विद्या से विश्व के अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करेगा और अपना निज का भी

हित करेगा। विद्या के प्रभाव से उसमें नम्रता, सरलता और भद्रता आएगी। पुण्यशाली पुरुष में शारीरिक शक्ति होगी तो वह दूसरों की रक्षा करेगा, अभयदान देगा और सत्पुरुषों का संरक्षण करेगा। इस प्रकार वह अपनी प्रत्येक शक्ति का सद्व्यय करेगा।

मगर पापी जीव की मति विपरीत होती है। उसको जो भी शक्ति प्राप्त होती है, उससे वह पाप का उपार्जन करता है; दूसरों का अपकार करता है और अपने मार्ग में स्वयं कांटे बोता है। उसके पास शरीरबल होगा तो दूसरों को सताएगा, विद्याबल होगा दूसरों को नीचा दिखाने की कोशिश करेगा, वाक्पटुता होगी तो दूसरों को गलत राह की ओर ले जाएगा और धनबल होगा तो पाप में उसे व्यय करेगा। दोनों का अन्तर बतलाते हुए नीतिकार कहते हैं—

विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्,
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

दुर्जन की विद्या वाद-विवाद करके दूसरों को नीचा दिखलाने के काम आती है। उसका धन मदोन्मत्त बनाने का साधन बन जाता है। शक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के काम आती है। किन्तु साधु अर्थात् सज्जन पुरुष की विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति दूसरों की रक्षा के लिए होती है।

वस्तु वही है, शक्ति वही है; परन्तु उसका उपयोग एक दूसरी से सर्वथा विपरीत दो दिशाओं में होता है। पाप की और पुण्य की प्रेरणा के भेद से इतना अन्तर पड़ जाता है। पापी की

प्रत्येक शक्ति पाप की वृद्धि में और पुण्यात्मा की शक्ति पुण्य की वृद्धि में काम आती है।

सत्पुरुष की विशेषता इस प्रकार है—

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहिता
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयिता चित्तेऽपि गंभीरता।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेऽति विज्ञानिता,
रूपे सुन्दरता हरौ भजनिता सत्स्वेव संदृश्यते॥

अर्थात्—सज्जन एवं पुण्यात्मा पुरुष धर्म करने में तत्पर रहते हैं, उनके मुख में सदा मिठास होती है अर्थात् जब बोलेंगे तो मधुर वाणी ही बोलेंगे, दान देने में उत्साहवान् होते हैं, कभी अपने मित्र को धोखा नहीं देते, गुरुजनों पर विनय का भाव रखते हैं, चित्त में गंभीरता धारण करते हैं। उनका आचार-विचार शुद्ध और पवित्र होता है। वे सद्गुणों के रसिक होते हैं। शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं। उनका रूप सद्गुणों के कारण मनोहर लगता है और वे परमात्मा के भक्त होते हैं।

पुण्यवान् पुरुष की प्रकृति ही ऐसी सुन्दर हो जाती है कि उसमें स्वतः सद्गुणों का आवास होता है। उसमें सद्गुण आ-आ कर निवास करते हैं। कहा भी है:—

गर्वं नोद्वहते न निन्दति परान्नो भाषते निष्ठुरं,
प्रोक्तं केनचिदप्रियं च सहते क्रोधं च नालम्बते।
श्रुत्वा काव्यमलक्षणं परकृतं सन्तिष्ठते मूकवत्,
दोषांश्छादयते स्वयं न कुरुते ह्येतत्सतां लक्षणम्॥

पुण्यशील सत्पुरुष को अभिमान छूता तक नहीं है। वह किसी की निन्दा नहीं करता और न कभी किसी के प्रति कटुक भाषण करता है। जब बोलता है तो ऐसा कि मुँह से मानो फूल झड़ते हैं। कदाचित् कोई उससे अप्रिय भाषण करे तो वह शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है और कभी क्रोध का आलम्बन नहीं करता। किसी का काव्य सुनेगा और वह दूषित होगा तो चुप्पी साध जाएगा—उसके दोषों का बखान नहीं करने लगेगा। किसी पर दोषारोपण तो करेगा ही नहीं, वरन् दूसरों के दोष देखेगा तो उन्हें ढँकने का ही प्रयत्न करेगा। स्वयं तो दोषों का सेवन करेगा ही नहीं। जिस पुरुष में यह सब लक्षण हों, समझ लेना चाहिए कि वह सत्पुरुष है और पुण्यशाली है। यह पुण्यवान् के लक्षण हैं।

तो अभिप्राय यह है कि पुण्यवान् पुरुष अपनी प्रत्येक शक्ति का उपयोग दूसरों का कल्याण करने में ही करता है, जब कि पापात्मा की शक्तियाँ स्व-पर के अहित में निहित होती हैं।

आगरा में बलवन्तराय नामक एक सज्जन थे। वे बड़े आदमी थे। एक कुर्ता, धोती और टोपी रखते थे। कभी किसी गरीब का काम अटकता तो वह दौड़ा हुआ उनके पास आता और वह तत्काल उसकी सहायता करने को तैयार हो जाते। उन्होंने शायद कभी किसी के काम के लिए आनाकानी नहीं की होगी, ऐसा लोग कहते थे। हमने जब आगरे में चातुर्मास किया तो उन्होंने हमारी बहुत सेवा की।

वह बड़े बुद्धिमान् और धर्मप्रेमी भी थे। आगरा में एक बार कुत्ता मारे जाने लगे तो कुछ लोग गवर्नर के पास गये और कहा—कुत्तों को मारना बंद होना चाहिए।

गवर्नर ने कहा—तुम जैन ही जैन इकट्ठे होकर चले आते हो। तुम समझते नहीं कि कुत्तों के बढ़ जाने से कितनी परेशानी होती है।

तब बलवन्तरायजी बोले—हुजूर, हम समझदार नहीं हैं, तभी तो आपके पास आये हैं। समझदार होते तो हम ही राज्य क्यों न करते ?

इस उत्तर को सुनकर गवर्नर भी चकित-सा रह गया। आखिर उन्होंने गवर्नर से अपनी बात मनवा ही ली।

अभिप्राय यह है कि पुण्यवान् पुरुष की बुद्धि परोपकार, सेवा आदि सत्कार्यों में लगती है और पापी जीव को बुद्धि मिले तो वे नयी-नयी तरह के बंदूक, पिस्तौल, मशीनगन और एटमबम आदि हिंसाजनक शस्त्रास्त्रों के निर्माण में लगाते हैं। पुण्यशाली पुरुष तत्त्वविचार में अपनी बुद्धि का सदुपयोग करते हैं। वह विचार करते हैं कि आत्मा क्या है ? परमात्मा क्या है ? धर्म क्या है ? पुण्य और पाप के कार्य क्या हैं ? मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? आदि।

भाइयो ! बुद्धि तो वही की वही है, परन्तु एक उससे संवर और निर्जरा करके आत्मा का कल्याण करता है और दूसरा उसीसे पाप करता है, अशुभ कर्मों का बन्ध करता है, आत्मा को मलीन बनाता है और अपने लिए दुःखों का सृजन कर लेता है !

आपके दो हाथ हैं। इनसे आप चाहें तो किसी गिरते को बचा सकते हैं और चाहें तो धक्का देकर गिरा सकते हैं।

आपके दो आँखें हैं। इनसे शास्त्रों का अवलोकन भी कर सकते हैं, संतों का दर्शन भी कर सकते हैं, और भी शुभ कार्य कर

सकते हैं। और यदि चाहें तो परस्त्री पर खोटी दृष्टि डाल कर पाप का संचय भी कर सकते हैं। आपको यह सब साधन पुण्य के योग से मिले हैं। आपकी इच्छा है, इनसे चाहे पुण्योपार्जन कीजिए, चाहे पाप का।

पुण्य का उदय होता है तभी सुबुद्धि की प्राप्ति होती है। कोई भी जाकर पूछता है—फलांचंदजी कैसे हैं? जवाब मिलता है—लाखों में एक हैं। कोई हुँडी लेकर जाता है। पूछते हैं—किसकी हुंडी है? फलांचंदजी की तो दुकानदार कहता है—अजी, यह तो दर्शनी हुँडी है! और किसी दूसरी हुँडी के लिए कहता है—इसे तो हम नहीं लेते! भाई, यह सब पुण्य के खेल हैं! जिसके पुण्य का उदय है, उसकी सर्वत्र प्रतीति होती है। वे जहाँ कहीं जाते हैं, श्रेष्ठ समझे जाते हैं और आदर पाते हैं। किसी सराफ की दुकान पर ऐसे लोग चले जाएँ और कदाचित् दुकानदार को किसी काम से दुकान छोड़ कर चला जाना पड़े तो वह लाखों का माल छोड़ कर चला जाता है। सराफ समझता है कि यह मनुष्य प्रामाणिक और ईमानदार है!

पुण्यवान् पुरुष राजाओं—महाराजाओं के द्वारा भी आदर पाता है। वह जो कुछ बोलता है, खूब सोच-समझ कर बोलता है। न्याय संगत बात ही कहता है। और जब बोलता है तो सब उसकी बात को स्वीकार कर लेते हैं। पुण्यवान् पुरुष सदा ईमानदारी की ही बातें कहता है। कभी कोई जाल या फरेब नहीं रचता।

पुण्यशाली की बड़ी विशेषता यह होती है कि वह माता-पिता को सिर पर रखता है। वह जानता है कि माता-पिता ने असीम कष्ट सहन करके हमारे जीवन का निर्माण किया है; हमें सब प्रकार से योग्य बनाया है। वे सदैव हमारा हित ही सोचते हैं और

हित का काम ही करते हैं। अतएव उनका आदर करना, विनय करना, उनकी सेवा करना और उन्हें हर प्रकार से सुख-सुविधा पहुंचाना हमारा पवित्र कर्त्तव्य है। यह समझ कर वे कभी माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते और अपने धर्म का भलीभांति पालन करते हैं। कैसा भी लाभ का काम क्यों न हो, धर्म की मर्यादा का अगर भंग होता होगा तो वे उसे नहीं करेंगे। उनके अन्तःकरण में पक्का विश्वास होता है कि धर्म जीवन में सब से उत्तम वस्तु है। जगत् में अगर कोई सारभूत वस्तु है तो वह धर्म ही है। धर्म को तिलांजलि देकर न कभी कोई सुखी हुआ है और न हो ही सकता है। अतएव चाहे और-और पदार्थ चले जाएँ परन्तु धर्म नहीं जाना चाहिए। धर्म गया तो सभी कुछ चला गया और धर्म रहा तो सभी कुछ रह जाएगा।

पुण्यवान् पुरुष परस्त्री को माता और बहिन के समान समझते हैं। श्रीरामचन्द्रजी ने अपने भाई भरतजी को यही नीति समझाई थी कि—हे भाई! परस्त्री को अपनी माता समझना। जो लोग जरा भी गलत रास्ते पर चले जाते हैं, जनता की नजर से छिपे नहीं रहते और लोग उनकी ओर उंगली उठा कर बताने लगते हैं कि यह अमुक का पोता और अमुक का बेटा भ्रष्ट हो गया है। यह कुपथगामी है। इस प्रकार वह अपनी भी इज्जत खोता है और अपने बाप-दादाओं की इज्जत पर भी कालिमा पोत देता है। किसी ने केसर घिसी और उसमें कोयला भी घिस दिया तो वह केसर किस काम की रही? इसी प्रकार मनुष्य की जिंदगी और उसकी कीर्त्ति केसर के समान है और उसमें दुर्व्यसन कोयले के समान हैं।

पुण्यवान् पुरुष परस्त्री को माता और बहिन के समान समझते हैं। श्री रामचन्द्रजी अपने भाई भरतजी को यही नीति

समझाई थी कि हे भाई! परस्त्री को अपनी माता समझना। जो लोग जरा भी गलत रास्ते पर चले जाते हैं, जनता की नजर से छिपे नहीं रहते और लोग उनकी ओर उंगली उठा कर बताने लगते हैं कि यह अमुक का पोता और अमुक का बेटा भ्रष्ट हो गया है। यह कुपथगामी है। इस प्रकार वह अपनी भी इज्जत खोता है और अपने बाप-दादाओं की इज्जत पर भी कालिमा पोत देता है। किसी ने केसर घिसी और उसमें कोयला भी घिस दिया तो वह केसर किस काम की रही? इसी प्रकार मनुष्य की जिंदगी और उसकी कीर्त्ति केसर के समान है और उसमें दुर्व्यसन कोयले के समान हैं।

राम ने भरत से कहा—दूसरी बात यह है कि—दूसरे के धन पर नीयत मत बिगाड़ना। पुण्यात्मा पुरुष कभी यह विचार नहीं करता कि अमुक धनवान् है तो उसका धन अनीति से ले लूं। वह तो यही समझता है कि लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ही द्रव्य की प्राप्ति होती है। अनीति से प्राप्त किया हुआ धन ठहरता नहीं है।

राम ने कहा—तीसरी बात यह है कि अपने धर्म की मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करना। ऐसा ही कोई संकट आ जाय तो मर जाना कबूल हो, पर धर्ममर्यादा का उल्लंघन करना कबूल नहीं होना चाहिए। प्यास लगी हो तो प्यासा मर जाना ठीक, पर ज़हर के पानी से प्यास बुझाना ठीक नहीं। और यह भी याद रखना कि नीच जनों के संसर्ग में रहना उचित नहीं है। तुम कितने ही भले हो, परन्तु यदि नीचों की संगति में रहोगे तो तुम्हारी इज्जत में फर्क आए बिना नहीं रहेगा। चोर की संगति करने वाला भले चोरी न करे, मगर लोग उसे भी चोर समझने लगते हैं। किसी के

घर चोरी होने पर उसकी भी तलाशी होती है। अतएव बुरों की संगति से बचना ही उचित है।

एक हंस और एक कौवा में मित्रता थी। एक बार कौवा ने हंस से कहा—जरा हमारे देश की भी तो सैर कर आओ। हंस ने अपने मित्र का निमंत्रण स्वीकारकर लिया। दोनों उड़ते-उड़ते एक जंगल में पहुँचे और एक वृक्ष पर विश्राम करने के लिए बैठ गए। उसी वृक्ष के नीचे एक राजा ठहरा हुआ था। वृक्ष की सघन छाया में उसकी गद्दी बिछी थी और राजा उस पर मसनद के सहारे बैठा आराम कर रहा था। यह दोनों उसके ठीक ऊपर एक शाखा पर बैठ गए। इतने में ही कौवा ने बींट करदी और वह उसी समय उड़ गया। बींट राजा के ऊपर पड़ी। राजा ने अपने नौकर को आज्ञा दी—तीर से उड़ा दो इस दुष्ट जानवर को! नौकर ने हंस को निशाना बना कर तीर मारा और हंस नीचे आ गिरा। तब हंस बोला—

> नाहं काको महाराज, हंसोऽहम् विमले जले।
> नीचसङ्गप्रसंगेन, मृत्युरेव न संशयः॥

हे महाराज! बींट करने वाला मैं नहीं, कौवा था। मैं तो निर्मल नीर में रहने वाला हंस हूं। मगर तुम्हारा भी क्या दोष है मैं ने नीच कौवा की संगति की, इसी कारण मुझे आज मौत का शिकार बनना पड़ा!

इसलिए राम कहते हैं—हे भाई! तू कभी नीच की संगति मत करना। नीच की संगति से अनिष्ट होता है।

संगति कीजे साधु की, हरै और की व्याधि।
ओछी संगति नीच की, आठों पहर उपाधि॥

संगति करना तो सत्पुरुष की करना चाहिए। सत्पुरुष दूसरों को भी व्याधि को टालता है। मगर नीच पुरुष की संगति ओछी संगति है और ऐसी संगति से रात-दिन झगड़े-झंझट खड़े रहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य का संकल्पबल इतना प्रबल नहीं होता कि वह खराब आदमियों की संगति में रह कर भी अपनी अच्छाइयों को कायम रख सके। दूसरों का, जो सदा सम्पर्क में रहते हैं, कभी न कभी असर पड़ ही जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि खराब आदमियों के संसर्ग से बचा जाय। एक कवि कहते हैं—

अहो दुर्जनसंसर्गान्मानहानिः पदे पदे।
पावको लोहसंगेन, मुद्गरैरभिहन्यते॥

अर्थात्—दुष्ट जनों की संगति से पग-पग पर मानहानि होती है। देखो, लोहे की संगति करने से अग्नि को मुद्गरों की मार खानी पड़ती है। जब लोहे से आग अलग रहती है तो कौन उसे मुद्गर मारता है? परन्तु लोहे का संसर्ग करते ही उस पर विपत्ति आ जाती है। और भी कहा है—

अणुरप्यसतां संगः, सद्गुणं हन्ति विस्तृतम्।
गुणो रूपांतरं याति, तक्रयोगाद्यथा पयः॥

असत् पुरुषों का अणु—थोड़ा-सा संसर्ग भी बड़े से बड़े सद्गुण का नाश कर देता है। सज्जन की सज्जनता भी बदल कर

दुर्जनता बन जाती है। दूध कितना ही अधिक क्यों न हो और कितना ही मधुर क्यों न हो, परन्तु तक्र (छाछ) के संसर्ग से रूपान्तर को प्राप्त हो ही जाता है। अतएव असत्संगति से सदैव बचना चाहिए।

रामचन्द्र भरत से कहते हैं—यह भी याद रखना कि शत्रु के सामने कभी आजीजी न करना, दीनता न दिखलाना। शत्रु के सामने तो शूरवीर होकर ही रहना चाहिए। दुश्मन के सामने हथियार डाल देने का अर्थ है पराधीनता स्वीकार करना। जर्मनी और जापान ने हथियार डाल दिये, फिर चाहे वे किसी भी परिस्थिति में क्यों न डाले हों, तो पराधीनता का अभिशाप भुगतना पड़ा। भर्तृहरि का तो यहाँ तक कहना है कि शत्रु के सामने शूरवीर और स्त्री के सामने धूर्त्त होकर रहना चाहिए। मगर यह नीति ऐसी स्त्री के सम्बन्ध में समझनी चाहिए, जिसकी प्रतीति नहीं है। जो नारी भाग्यवान् और सुशीला है, उसके सामने धूर्त्तता करने की आवश्यकता नहीं। नारी सुशीला है या नहीं, यह बात छिपी नहीं रहती। परीक्षा करने से तत्काल पता चल जाता है।

किसी सेठ के एकलौता लड़का था। वह विद्याध्ययन कर रहा था। सेठ धनवान् था और लड़के को बहुत चाहता था। लड़का बड़ा हुआ और उसकी सगाई की चर्चा होने लगी। जब लड़के को पता चला कि मेरी सगाई की बातचीत हो रही है तो उसने साफ कह दिया—मैं अभी सगाई नहीं करूँगा। मैं एकाग्र चित्त से विद्याध्ययन करना चाहता हूँ।

पहले तो सेठ ने समझा कि कुछ दिन ठहर जाना अच्छा ही है। लड़का पढ़ जायगा और परिपक्व वय का हो जायगा तो

विवाह कर देंगे। मगर धीरे धीरे वह २२ वर्ष का हो गया। तब भी वह विवाह के लिए राजी नहीं हुआ। इन्कार ही करता रहा। अब सेठ सोच-विचार में पड़ गया। उसने कई बार दूसरों से कहलवाया, परन्तु लड़का विवाह करने को तैयार नहीं हुआ। लाचार होकर सेठ ने स्वयं आग्रह किया, फिर भी वह अपने विचार पर स्थिर ही रहा।

लड़के के २४ मित्र थे। सेठ ने एक बार उन्हें बुलवाया और कहा—आप लोगों का मित्र विवाह के योग्य हो गया है। मेरे समझाने पर भी वह विवाह करना स्वीकार नहीं करता। अतएव उसे समझाने का भार मैं आप पर डालना चाहता हूँ। मुझे आशा है, इस कार्य में आप लोग अवश्य सफल होंगे।

मित्रों ने परामर्श करके कहा—आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। हम पूरी कोशिश करके आपके पुत्र को विवाह के लिए सहमत करने का प्रयत्न करेंगे। आशा है, हम सफल भी होंगे।

गनगौर का त्यौहार आया। उस दिन उन मित्रों ने गोठ (दावत) करने का कार्यक्रम निश्चित किया। यह भी तय हुआ कि सब सपत्नीक इस गोठ में शामिल हों। यह लड़का भी इसमें सम्मिलित हुआ।

भोजन के पश्चात् गाने-बजाने की बारी आई। तब उनमें से एक ने कहा—देखो भाई, यह मालदार सेठ का लड़का है, परन्तु जिसके स्त्री नहीं होती, उसकी नीयत अच्छी नहीं रहती। अतएव जब मर्दों ही मर्दों की गोठ हो तभी इसे बुलाना और सम्मिलित करना चाहिए।

सेठ के लड़के को यह बात चुभी। परन्तु उसने कहा—अच्छा भाई, मैं विवाह कर लूँ तब तो कोई बाधा नहीं होगी? उसने कहा—नहीं, फिर क्या बाधा है? फिर तुममें और हममें कोई अन्तर नहीं रहेगा। अभी तुम्हारी और हमारी जाति अलग-अलग है।

सब लोग हँसने लगे। सेठ के लड़के ने कहा—अच्छा, अब मैं भी तुम्हारी जाति में शामिल हो जाऊँगा।

लड़का विवाह करने को रजामन्द हो गया है, इस संवाद से सेठ को प्रसन्नता हुई। उसने लड़की पहले ही देख रक्खी थी। नाई और सेवक को बुलाकर कहा—जाओ और सगाई की बात चीत करो। बात पक्की हो जाय तो दस्तूर कर आना।

नाई और सेवक रवाना हुए परन्तु उस लड़के ने कह रक्खा था कि मेरी सगाई की जाय तो उसके साथ की जाय जो निम्न-लिखित पद की पूर्ति कर दे—

वन में आंबो बोवियो, कौन करे रखवाली।

लड़की अठारह वर्ष की हो चुकी थी, किन्तु सुयोग्य वर न मिलने के कारण उसका सम्बन्ध रुका हुआ था। आखिर माता-पिता अपनी समझ में योग्य से योग्य वर तलाश करके ही लड़की देना चाहते हैं। और यह स्वाभाविक ही है। कहा है—

योग्य वर देखणो, यों मात-पिता सोचे मन माहीं रे ॥टेर॥
बराबरी को योग मिले तो, सुख मिले ज्यूं चहावेरे।
जोड़ी में जो फरक होय तो वर दुख पावेरे ॥१॥

क्रोधी नर ने सुता न देणी, घर में जंग मचावेरे।
दुर्व्यसनी नहीं माने, घर को माल उड़ावेरे ॥२॥

उस लड़की के माता-पिता सोच रहे थे कि यह लड़की किसे दी जाय? जब बराबरी की जोड़ी मिलती है, तभी उसे सुख को प्राप्ति होती है। क्योंकि कहा गया है—

समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।

जिनका शील-स्वभाव और आदतें एक-सी होती हैं उन्हीं में मैत्रीभाव स्थापित होता और कायम रहता है। जिनके स्वभाव में भिन्नता होती है, जिनकी आदतें अलग-अलग प्रकार की होती हैं, उनमें घनिष्ठ हार्दिक मैत्री स्थापित नहीं हो सकती। खास तौर से क्रोधी को लड़की नहीं, देनी चाहिए। संसार में देखा गया है कि क्रोधी पुरुष क्रोध के तीव्र आवेश के वशीभूत होकर स्त्रियों के प्रति अतीव निष्ठुर और निर्दय व्यवहार करते हैं। एक पुरुष ने अपनी स्त्री को चक्की के पाट से दे मारा था। दूसरे दुर्व्यसनी को भी लड़की देना योग्य नहीं है। दुर्व्यसनी पुरुष बुरे रास्ते पर चलता है और घर की सुखशान्ति को नष्ट कर देता है। सारा धन दुर्व्यसन की आग में झोंक देता है और अपनी औरत के जेवर तक खो बैठता है।

तस्कर दुष्ट रुष्ट निर्लज्ज, निर्दय को नहीं दीजे रे।
पागल और अवारा से भी दूरो रहीजे रे ॥३॥
विद्याबल नीरोग और जो होवे बहुपरिवारी रे।
चौथमल कहे सुना दिया होवे सुख भारी रे ॥४॥

आप सब को मजिस्ट्रेट बना कर जजमेन्ट (फैसला) लेना चाहता हूं कि चोर, दुष्ट, निर्दय और निर्लज्ज तथा पागल और आवारा लड़के को कन्या देने पर क्या होगा ? ऐसे कुपात्र के गले कन्या सुख पाएगी या दुःख उठाएगी।

वास्तव में ऐसे वर को कन्या दी जाय, जो विद्यावान् हो, बलवान हो, शरीर से तंदुरुस्त हो और परिवार वाला हो तो कन्या सुख पाएगी।

उस लड़की के माता पिता यही सोच रहे थे। इसी समय वह नाई और सेवक पहुँचे। सेठ को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। सेवक ने कहा—हमारे सेठ साहब के कुंवर बहुत होशियार हैं और देखने में भी बहुत सुन्दर हैं। धन-सम्पन्न घर है। अगर संबंध करने की आपकी इच्छा हो तो संबंध हो सकता है, परन्तु एक बार लड़की को देख लेना चाहते हैं।

लड़की के पिता ने प्रसन्नतापूर्वक लड़की को दिखलाना स्वीकार कर लिया। सेवक ने लड़के की लिखी हुई कविता लड़की को दिखलाई और कहा—इसकी पूर्त्ति करो।

लड़की ने तुरन्त उस पद की पूर्त्ति कर दी—

वन में आंबो बोवियो कौन करे रखवाल।
रहे तो अपने धर्म से, जाय तो जन्म बिगार ॥

जब पादपूर्ति हो चुकी तो सगाई का दस्तूर कर दिया गया और विवाह का मुहूर्त्त निकलवाया गया। यथा समय शुभ मुहूर्त्त में दोनों का विवाह हो गया। वधू घर आई और तीन-चार दिन

रह कर अपने मायके चली गई। इस प्रकार छह महीने बीत गये। लड़की को ससुराल ले जाने के कोई समाचार न आये तो उसके पिता को चिन्ता हुई।

आखिर किसी त्यौहार के अवसर पर लड़की के पिता ने अपने जामाता को आने का आमंत्रण भेजा; परन्तु सेठ के लड़के ने उस पत्र को फाड़ कर फैंक दिया। इस तरह कई पत्र आये, परंतु वह सब फाड़ कर फैंक दिये गये। लड़के ने ससुराल जाने का नाम नहीं लिया।

मुनीम ने एक दिन समझाया—कुंवर साहब, पर्याप्त समय हो चुका है। अब बहू को ले आइए। अन्यथा लोक हँसाई होगी।

कुंवर बोला—मैंने तो सब के कहने-सुनने से विवाह कर लिया था। अविवाहित नहीं रहा, यही बहुत है। अब मैं अकेला ही मस्त हूँ।

सेठ ने यह सब सुना तो वह माथा ठोक कर रह गया। सोचने लगा—इस लड़के का दिमाग खराब हो गया है। इससे तो विवाह न कराना ही ठीक था। एक लड़की की जिंदगी बिगड़ी और बदनामी हुई सो अलग! दुनिया मुझे थूकेगी!

आखिर सेठ ने फिर लड़के के मित्रों का सहारा लिया। एक दिन उन्हें बुलाया और उनकी आजीजी की। कहा—भाई, किसी तरह इसे ससुराल जाने और बहू को ले आने के लिए राजी करो।

मित्रों ने फिर गोठ का आयोजन किया। सब मित्र सपत्नीक गोठ में सम्मिलित हुए। सेठ का लड़का भी शामिल हुआ। तब

एक मित्र ने उसे टोंकते हुए कहा—कुंवर साहब ! आप सपत्नीक क्यों नहीं आए ?

सेठ का लड़का—सपत्नीक नहीं आया, परन्तु विवाहित हूँ।

मित्र—तो क्या आपकी पत्नी ने आपको थप्पड़ मार दी है जिससे उसे साथ लेकर नहीं आए ?

सेठ का लड़का लज्जित हुआ। उसने उसी समय सुसराल जाकर पत्नी को ले आने का निश्चय कर लिया। घर आकर अपने पिता को अपने निश्चय की सूचना दे दी; पर साथ ही कहा—मैं अपने मित्रों के साथ सुसराल जाऊँगा।

सेठ ने मित्रों को बुलाकर साथ जाने के लिए राजी कर लिया। मित्रों ने कहा—हम जाने को तैयार हैं परन्तु एक-सा भोजन करेंगे, एक से वस्त्र पहनेंगे और एक ही जगह ठहरेंगे।

सेठ ने यह सब स्वीकार किया। बरात की बरात लड़के की सुसराल जाने को तैयार हुई। यथा समय चल कर सब सुसराल पहुँचे। पच्चीस की वेषभूषा एक-सी थी। अतएव लड़की के माता-पिता यही भूल गये कि इनमें कौन हमारा जामाता है और कौन नहीं ? लेकिन आप जानते हैं कि नाई बड़े होशियार होते हैं। तो नाई ने कहा—आप चिन्ता न कीजिए। रात्रि के समय मैं जामाता को खोज निकालूँगा।

रात्रि के समय नाई उनके निवासस्थान पर गया और बोला—आपमें जो जामाता हों, वह सोने के लिए हवेली में पधारें।

इन सब ने बारी नियत कर ली थी। चौवीस दिन चौविस मित्रों की और पच्चीसवें दिन असली जामाता की बारी रक्खी

गई थी। पहले दिन एक व्यक्ति हवेली में गया। लड़की भी अपने पति को भूल गई थी। वह एक ही बार तीन-चार दिन के लिए ससुराल गई थी और उस बात को बहुत समय बीत चुका था। अतएव वह सन्देह में पड़ गई। मगर लड़की बड़ी चतुर थी। उसने सोचा—परीक्षा किये विना किसी को कमरे में आने देना योग्य नहीं है। अतएव उसने अपने कमरे का द्वार बंद कर लिया और कहा—पहले आप स्नान कर लीजिए और फिर कमरे में प्रवेश कीजिए। वह कपड़े खोल कर स्नान करने लगा। स्नान करके वापिस आया और किवाड़ खोलने के लिये कहा तो लड़की ने कहा—अगर आप अधूरा दोहा सुना दें तो मैं किवाड़ खोल सकती हूँ, अन्यथा नहीं।

माघ का महीना था और कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। वह व्यक्ति न अधूरा दोहा सुना सका और न कमरे का द्वार खुला। उसे रात भर सर्दी में ठिठुरना पड़ा। सवेरा हुआ तो वह पछताता हुआ, मन ही मन अतीव लज्जित हुआ किन्तु ऊपर-ऊपर से हँसता हुआ अपने मित्रों में पहुँचा। दूसरों ने पूछा—कहो भाई, रात कैसी बीती? उसने कहा—बस कुछ न पूछो! एकदम अपूर्व अनुभव हुआ।

इसी प्रकार प्रत्येक मित्र की हालत हुई। मगर किसी ने किसी से कुछ कहा नहीं। अपनी दुर्दशा की बात सब ने अपने ही मन में रक्खी और सब अपने अपने मन में लड़की के चातुर्य की प्रशंसा करने लगे।

पच्चीसवें दिन खास जामाता की बारी आई। लड़की ने उससे भी वही कहा। वह स्नान करके आया तो लड़की ने कहा—अधूरा दोहा सुनाओ। वह उस दोहे को भूल गया था, मगर किसी तरह याद करके उसने दोहा सुना दिया। तब उस लड़की ने कमरे

का द्वार खोला। पति-पत्नी का मिलाप हुआ। पत्नी ने पिछले दिनों की घटना अपने पति को कह सुनाई। इस पर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और समझने लगा कि जैसे राम को सीता और हरिश्चन्द्र को तारा मिली थी, वैसे ही मुझे भी पुण्यवती सती स्त्री की प्राप्ति हुई है। सेठ का लड़का अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। उसके मित्रों ने भी उसकी पत्नी की पूरी-पूरी प्रशंसा की। लड़के ने कहा—मैं ने तुम्हारी परीक्षा के लिए यह आयोजन किया था।

यह तो एक उदाहरण है। अभिप्राय यह है कि स्त्री यदि होशियार और चतुर न हो तो ठगाई में आ जाती है।

भाइयो! बात पुण्यवान की चल रही है। पुण्यवान् पुरुष की बुद्धि शुद्ध होती है। वह अपने मस्तिष्क में कभी दुर्विचारों को अवकाश नहीं देता। वह जानता है कि जितने भी लोगों का जीवन भ्रष्ट होता है, वह पहले पहल भावना के द्वारा ही होता है। सर्वप्रथम मनुष्य की भावना विकृत होती है, तत्पश्चात् वह कुकृत्य करने लगता है। इस प्रकार अधःपतन की पहली सीढ़ी भावना की खराबी है। यही कारण है कि धर्मशास्त्र में भावना शुद्धि को अतीव महत्त्व दिया गया है। एक आचार्य का कथन है:—

दानशीलतपःसम्यक्, भावेन भजते फलम्।
स्वादः प्रादुर्भवेद् भोज्ये, किं नाम लवणं विना॥

यों तो दान, शील, तप और भावना के भेद से धर्म चार प्रकार का है, किन्तु यह सब धर्म उसी समय फलप्रद होते हैं, जब भावना साथ में हो। भावनाहीन दान आदि सफल नहीं होते। जैसे नमक के विना भोजन में स्वाद नहीं आता, उसी प्रकार भावना

के विना धर्म का फल नहीं होता। इसीलिए धर्म का सार बतलाते हुए कहा है—

समत्वं भज भूतेषु, निर्ममत्वं विचिन्तय।
अपाकृत्य मनःशल्यं, भावशुद्धिं समाश्रय॥

अर्थात्—प्राणी मात्र पर समता का भाव धारण करो। सब को अपना सरीखा समझो और ममता का परित्याग करो। मनके शल्य को दूर करके भावशुद्धि का आश्रय लो; अर्थात् अपनी बुद्धि को शुद्ध रक्खो; उसमें मलीनता मत आने दो; विकार का प्रवेश मत होने दो।

बुद्धि शुद्धि में बड़ी बलवती शक्ति विद्यमान है। जिस की बुद्धि पवित्र होगी, जिसके अन्तःकरण में मलीन विचारों का प्रवेश न होता होगा, उसका कल्याण अवश्यंभावी है। अतएव यह पुण्यात्मा का लक्षण है। पुण्यवान पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि कदापि मलिन विचारों से युक्त न होने दे।

रामचन्द्रजी भरत से आगे कहते हैं—देखो भाई भरत, यदि तुम अपने जीवन को उच्चतर स्तर पर पहुँचाना चाहते हो तो इन बातों का ध्यान रखना—कुमार्ग में धन का व्यय न करना, अपयशकारी विचार या कार्य न करना, भगवान् की कथा सुनना, सत्य से प्रेम करना, शरीर से नम्र व्यवहार करना और मुख से जो कुछ बोलो, सोच-समझ कर बोलना। किसी को कोई वायदा करने से पहले सोच लेना कि तुम उसे पूरा कर सकते हो अथवा नहीं? अगर पूरा कर सकने की संभावना न हो तो स्पष्ट रूप से अपनी असमर्थता प्रकट कर देना। और यदि विश्वास हो कि मैं अपना वायदा पूरा कर सकूँगा तो वायदे करने में कोई हानि नहीं।

कई लोग बातें तो बहुत बढ़ कर करते हैं, डींगे बहुत मारते हैं, परन्तु जब काम करने का समय आता है तो किनारे काटने लगते हैं, बगलें झांकने लगते हैं। ऐसे लोगों को दुनिया ढपोरशंख कहती है। उनकी बात पर कोई भरोसा नहीं करता। वह अप्रतीति के पात्र बन जाते हैं। अतएव सोच-समझ कर और अपनी शक्ति एवं स्थिति का विचार करके ही कोई प्रतिज्ञा करो और जब प्रतिज्ञा करलो तो प्रत्येक मूल्य पर उसका पालन करो।

भाई! संसार में नाना प्रकार के मनुष्य होते हैं। कोई स्वभाव से ही दुष्ट चित्त वाले होते हैं। वे बिना प्रयोजन ही दूसरों को गलत राह पर चलाने में आनन्द का अनुभव करते हैं। दूसरों को खोटी सलाह देते हैं। कोई-कोई अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किसी को कुपथ पर चलने की प्रेरणा करते हैं। यह भयंकर लोग अपने तुच्छ से स्वार्थ के लिए भी दूसरों का बड़े से बड़ा नुकसान करने में संकोच नहीं करते। अतएव ऐसे लोगों की सलाह से बचते रहने में ही कल्याण है। अपनी सद्बुद्धि को सदा जागृत रखना चाहिए और कोई खोटी अक्ल दे तो उसे कभी नहीं मान्य करना चाहिए।

हाँ, नीतिमान् पुरुष अगर न्याय-नीति की बात कहे तो उसे मानना परम कर्त्तव्य है। यही नहीं, ऐसी सलाह देने वालों का आभार मानना चाहिए और उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहिए।

दीन-दुखी जनों की सहायता करना भी पुण्यात्मा का लक्षण है। पुण्यशाली पुरुष का अन्तः करण करुणा की शीतल और सुखद ऊर्मियों से व्याप्त रहता है। अतएव वह पराये दुःख को अपना ही दुःख मानता है और वह दुःख उसके हृदय में उसी प्रकार सालता है, जैसा अपना दुःख। ऐसी स्थिति में

जिस प्रकार अपने दुःख को दूर करने की चेष्टा की जाती है, उसी प्रकार पुण्यवान् दूसरों के दुःख को भी दूर करने की चेष्टा करता है। इसी को अनुकम्पा कहते हैं। अनुकम्पा पुण्य का आधार है।

शास्त्रों में ज्ञान की बड़ी महिमा गाई गई है। परन्तु ज्ञान कभी निराधार नहीं रह सकता। वह किसी न किसी व्यक्ति में ही ठहर सकता है। जैसे धर्म, धर्मात्मा के बिना नहीं रहता, उसी प्रकार ज्ञान ज्ञानी के बिना नहीं रह सकता। अतएव ज्ञान की भक्ति करने का अर्थ ज्ञानी की भक्ति करना है। ज्ञानीजनों का, विद्वानों का और पण्डितों का सत्कार-सन्मान करना भी पुण्यवान् का लक्षण है। पुण्यात्मा पुरुष समझता है कि विद्वान् जन ही ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं। ज्ञानी का आदर न करना ज्ञान का अनादर करना है। अतएव जो विद्वान् पण्डित हों, उनकी अवश्य कद्र करनी चाहिए।

अन्त में राम भरत से कहते हैं—देखो भाई पक्षपात न करना और हृदय में अभिमान के विषैले अंकुरों को कदापि न पनपने देना। सदा ऐसे ही कामे करना, जिनसे स्वयं भी तिर सको और दूसरों को भी तार सको। जिस पुरुष में यह सब विशेषताएँ होती हैं, वही पुण्यवान् पुरुष कहलाता है। उसका यह जीवन भी पवित्र एवं सुखमय बनता है और अगला जीवन भी।

पुण्यवान जीव ही सुपुत्र पाते हैं। जिनके पुण्य का उदय होता है, उनके घर में पुण्यशाली जीव ही आकर जन्म लेता है। देखो गोभद्र सेठ और भद्रा सेठानी के यहाँ शालिभद्र सरीखा पुण्यात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ! असली तत्त्व की बात तो यह है कि पुण्य करने से ही पुण्यफल की प्राप्ति होती है। जो पुण्य तो करते

नहीं और पुण्य का फल चाहते हैं, उनकी अभिलाषा कैसे पूरी हो सकती है ?

माता मरुदेवी और महाराज नाभि प्रबल और उत्कृष्ट पुण्य करके आये थे, अतः उन्हें भगवान् ऋषभदेव जैसे सुपुत्र की प्राप्ति हुई, जिसने उनके नाम को सदा के लिए अमर कर दिया और कीर्ति फैला दी।

भाइयो ! आप भी ऐसे पुत्र की इच्छा करते हैं ? इच्छा करते हों तो आपको भी पुण्य का संचय करना चाहिए। आप नाभि के समान बनेंगे और यह माताएँ मरुदेवी के समान बनेंगी, तभी तो ऋषभदेव सरीखे पुत्र की प्राप्ति होगी ! तब इस लोक में और परलोक में आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

२७-११-४७. }

परोपकार
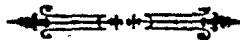
स्तुतिः—

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

हे जगद्वन्द्य ! आपने अपने मुखारविन्द से तीनों लोकों के जीवों के हितार्थ जो धर्मोपदेश दिया है, वह अनुपम है। इस अखिल जगत् में आपके सदृश कोई धर्मोपदेशक नहीं है। आपकी

अमृतमयी वाणी के समान किसी की वाणी नहीं। जैसे धराधाम और गगन में व्याप्त निविड़ अन्धकार का विनाश करने में सूर्य ही समर्थ हो सकता है, अन्य ग्रह, नक्षत्र, तारागण आदि नहीं, उसी प्रकार प्राणियों के अन्तस्तल में व्याप्त अज्ञान और विभ्रम का विनाश करने में आप—एक मात्र आप—ही समर्थ हैं। आपका धर्मोपदेश प्रत्येक श्रोता के अन्तरतर में प्रवेश करके सहस्ररश्मि सूर्य के सदृश प्रवेश करके अमिट प्रकाश प्रसारित कर देता है। उस प्रखर आलोक में अनादिकालीन मिथ्यात्व, अज्ञान तथा विभ्रम सहसा विलीन हो जाते हैं और मनुष्य की आत्मा अपने नैसर्गिक आलोक से उद्भासित हो उठती है। यह अद्भुत प्रभाव हे आदिनाथ! आपके ही उपदेश में है, किसी अन्य धर्मोपदेष्टा के उपदेश में नहीं।

कहा जा सकता है कि ऐसा कहना पक्षपातपूर्ण क्यों न माना जाय? भगवान् ऋषभदेव के प्रति आचार्य महाराज के मन में अनुराग का भाव है और दूसरे धर्मोपदेशकों के प्रति नहीं है। इसी कारण उन्होंने बढ़ा चढ़ा कर यह बात कही है।

इसके उत्तर में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु बहुत लम्बी चर्चा के लिए अवकाश नहीं है। अतएव संक्षेप में ही इस संबंध में विचार किया जाएगा।

भगवान् ऋषभदेव की यह स्तुति है। ऋषभदेव आद्य तीर्थंकर हैं और सभी तीर्थंकर समान गुणों एवं शक्तियों के धारक होते हैं। अतएव किसी भी तीर्थंकर के नाम से स्तुति की जाय, वह सभी तीर्थंकरों के लिए समान रूप से लागू होती है। सभी तीर्थङ्करों में जो भेद है, वह नाम का भेद है, गुणों का नहीं। नाम के भेद से तत्त्व में भेद नहीं होता। अतएव आचार्य महाराज का यह कथन

अन्य तीर्थङ्करों की तुलना रूप नहीं है। जिनमें देवत्व के वास्तविक गुण नहीं पाये जाते हैं, फिर भी जो देव कहलाते हैं, जो तीर्थङ्कर तो कहलाते हैं किन्तु तीर्थङ्करों के गुण जिनमें विकसित नहीं हुए हैं, उन्हीं को लक्ष्य करके यह कथन किया गया है।

सच्चे देवत्व का आधार पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता है। जिसने मोहनीय कर्म को पूर्ण रूप से क्षीण कर दिया है और पूर्ण वीतरागता प्राप्त कर ली है और जिसने ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म का क्षय करके अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन का प्रकाश पा लिया है, जो अन्तराय कर्म का सर्वथा नाश करके अनन्त शक्ति का स्वामी बन गया है, वही सच्चा देव है। कहा भी है—

सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥

अर्थात्—जिन्होंने लोक और अलोक को पूर्णरूपेण जान लिया हो, राग, द्वेष, मोह आदि आत्मिक विकारों को जीत लिया हो, इस कारण जो तीन लोक के पूज्य हो गये हों और जो यथार्थ वक्ता हों, वही अर्हन्त भगवान देव हैं।

देव का यह स्वरूप जिनमें घटित होता है, वह सब हमारे लिए माननीय, पूजनीय, वन्दनीय और स्तवनीय हैं, फिर उनका कुछ भी नाम क्यों न हो! तत्त्वदर्शी पुरुष नाम को आगे करके विवाद नहीं करते। वे वास्तविक वस्तु का विचार करते हैं और निष्पक्ष भाव से तत्त्व का चिन्तन करते हैं।

तो आशय यह है कि जिनमें सर्वज्ञता और वीतरागता पाई जाती है उनके विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा गया है। किन्तु जो सर्वज्ञ नहीं हैं, उन्हीं के विषय में यह कहा गया है—

इत्थं यथा तवविभूतिरभूज्जिनेंद्र ।
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ॥
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतांधकरा ।
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोपि ॥

वस्तुतः जिसमें उक्त दो गुण नहीं होंगे, वह सच्चा धर्मोपदेशक नहीं हो सकता। जिसमें अज्ञान है, जो स्वयं अंधकार में भटक रहा है, वह दूसरों को क्या प्रकाश दे सकता है ? भले ही उसकी नीयत अच्छी हो, फिर भी अज्ञान के कारण वह दूसरों को मिथ्या उपदेश देगा और गलत रास्ते पर ले जाएगा। इसी प्रकार जिसकी आत्मा राग और द्वेष से कलुषित है, जिसने मोह को नहीं जीत पाया है, वह भी समीचीन पथ का प्रदर्शन नहीं कर सकता। इस प्रकार यह निश्चित और निर्विवाद है कि जो वीतराग और सर्वज्ञ होगा, वही हितोपदेशक हो सकता है।

इस विवेचना से आप समझ सकेंगे कि भगवान् ऋषभदेव क्यों अद्वितीय धर्मोपदेशक हैं ? उन्होंने संयम और तपश्चरण का सेवन करके आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियों को जागृत किया और आत्मा को पूर्ण विकास की चरम सीमा पर प्रतिष्ठित किया। तत्पश्चात् ही उन्होंने उपदेश देकर धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की। इस कारण उनकी वाणी में अपूर्व प्रकाश और अद्भुत प्रभाव था। सत्यता तो होनी ही चाहिए थी। रागी-द्वेषी और असर्वज्ञ की वाणी में यह विशेषता नहीं आ सकती।

अरिहन्त देव की वाणी असाधारण होती है। शास्त्रों में उसके संबंध में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। उनकी

वाणी में पैंतीस अतिशय होते हैं, अर्थात् पैंतीस प्रकार की विशेषताएँ होती हैं। यथाः—

(१) संस्कारवत्व—भगवान् की वाणी भाषा और व्याकरण की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष होती है; उसमें संस्कारिता होती है।

(२) उदात्तता—उच्च स्वर से निर्गत होती है।

(३) उपचारोपेत-उसमें गँवारूपन लेश मात्र भी नहीं होता।

(४) गंभीरता—मेघ की तरह गंभीर होती है।

(५) अनुनादिता—उस वाणी की प्रतिध्वनि होती है।

(६) दक्षिणता-भाव गंभीर होने पर भी भाषा सरल होती है।

(७) उपनीतरागता—उसमें ऐसी अपूर्वता होती है कि श्रोता व्याख्येय विषय के प्रति अति आदरवान् हो जाते हैं—श्रोताओं को प्रतिपाद्य विषय में तन्मय बना देती है।

(८) महार्थता—थोड़े से शब्दों में भी अर्थ महान् होता है।

(९) पूर्वापराविरुद्धता—परस्पर विरोधी वचन नहीं होते; यह नहीं कि पहले कह दिया 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और फिर कह दिया कि-'वैदिकी हिंसा. हिंसा न भवति।' अर्थात् वेद में जिसका विधान है, वह हिंसा, हिंसा नहीं कहलाती।

(१०) शिष्टता—तीर्थंकर भाषा अतिशय शिष्ट होती है; शब्द की दृष्टि से भी और अर्थ की दृष्टि से भी। उसमें अशिष्टता लेश मात्र भी नहीं होती।

(११) असंदिग्धता—प्रतिपाद्य विषय को ऐसी स्पष्टता के साथ प्रतिपादन करना जिससे श्रोता के हृदय में किसी प्रकार का सन्देह न रहे।

(१२) अपहृतान्योत्तरत्व—इस ढंग से विषय का प्रतिपादन करना कि किसी को शंका करने का अवसर ही न मिले।

(१३) हृदयग्राहिता—श्रोता के चित्त पर एकदम असर पड़ जाय।

(१४) देशकालाविरोध—देश और काल के अनुरूप उपदेश करना।

(१५) तत्त्वानुरूपता—देश-काल का अनुसरण करते हुए भी सत्य तत्त्व का ही कथन करना वास्तविकता से विरुद्ध कथन न करना।

(१६) अप्रकीर्णप्रसृतता—यथोचित्त विस्तार से प्रतिपादन करना। अप्रासंगिक बात न कहना और प्रासंगिक को भी अधिक न बढ़ाना।

(१७) अन्योन्यप्रगृहीतता—पदों और वाक्यों का सापेक्ष होना।

(१८) अभिजातता—भूमिका के अनुसार ही विषय का प्रतिपादन करना।

(१९) अतिस्निग्धमधुरता—जैसे भूखे को मधुर भोजन प्रिय लगता है। उसी प्रकार भगवान् की वाणी श्रोताओं को प्रिय लगती है

(२०) अपरमर्मवेधिता—किसी के मर्म को चोट नहीं पहुँचाती

(२१) अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व—मोक्ष रूप अर्थ और श्रुत चारित्र रूप धर्म से युक्त होती है।

(२२) उदारता—तीर्थङ्कर देव की भाषा में उदारता होती है, अर्थात् उसका विषय महान् होता है, शब्दार्थ की रचना भी महान् होती है।

(२३) परनिंदात्मप्रशंसारहितता—उनकी वाणी में परकीय निंदा और अपनी प्रशंसा नहीं होती।

(२४) उपगतश्लाघत्व—हाँ, भगवान् अपनी वाणी के कारण स्वयं ही दूसरों के प्रशंसनोय बन जाते हैं।

(२५) अनपनीतत्व—उनकी वाणी में कारक, लिंग, वचन, काल या व्याकरण सम्वन्धी कोई दोष नहीं होता।

(२६) उत्पादिताविच्छिन्नकुतूहलत्व—श्रोताओं के चित्त में निरन्तर कुतूहल बना रहता है कि देखें, भगवान् आगे क्या कहते हैं

(२७) अद्भुतता—तीर्थङ्कर के वचन अश्रुतपूर्व होते हैं, अतः श्रोताओं को अद्भुत हर्षदायक होते हैं।

(२८) अनतिविलम्बितत्व—भगवान् बीच में ठहर-ठहर कर नहीं बोलते, वरन् धाराप्रवाह उपदेश देते हैं।

(२९) विभ्रमादिविप्रयुक्तता—वक्ता के मन में भ्रान्ति होना, श्रोता का दिल न लगना आदि-आदि दोषों से रहित। अर्थात् भ्रम-जनक अथवा अरुचिकारक भाषा नहीं बोलते।

(३०) विचित्रता—भगवान् की वाणी विविध प्रकार को वस्तुओं का प्रतिपादन करती है, अतएव वह अनूठी जान पड़ती है।

(३१) आहितविशेषता—अन्यजनों की अपेक्षा उनकी वाणी में विशेषता होती है और उससे श्रोताओं को विशेष बोध प्राप्त होता है।

(३२) साकारता—वर्ण, पद और वाक्य पृथक्-पृथक् होते हैं

(३३) सत्वपरिगृहीतता—भगवान् की भाषा बड़ी ओजस्वी और प्रभावशाली होती है।

(३४) अपरिखेदिता—भगवान् कितना ही धर्मोपदेश करें,

थकावट का अनुभव नहीं करते, क्योंकि वे अनन्तशक्तिशाली होते हैं।

(३५) अव्युच्छेदित्व—प्रतिपाद्य विषय की जब तक पूरी तरह सिद्धि न हो जाय तब तक उसकी लगातार व्याख्या करते हैं। यह पैंतीस विशेषताएँ तो उपलक्षण मात्र हैं। वास्तव में तीर्थंकर देव वीतराग और सर्वज्ञ होने के कारण सभी दोषों से रहित और सभी गुणों से सहित वचनों का प्रयोग करते हैं। उनकी वाणी अपूर्व अद्भुत और श्रोतृजनों के लिए परम कल्याणकारिणी होती है।

जय जय जिनराया, सूत्र सुणाया, धर्म बनाया हितकारी।
गणधरजी झेली, संधि सुमेली, नय रसकेली विस्तारी।
रचे द्वादश अंगं, भंग तरंगं, ध्रुव अभंगं अति भारी।
धन धन जिनवाणी, सब सुखदानी,
भविजन प्राणी उर धारी॥

इस स्पष्टीकरण से आप समझ सकेंगे कि भगवान् ऋषभदेव को अनुपम धर्मोपदेशक कहना पक्षपात नहीं, किन्तु एक निश्चित तथ्य है। सरागी की वाणी वीतरागवाणी की तुलना में किस प्रकार ठहर सकती है? जो ऐसे अद्वितीय हितोपदेशक हैं, उन्हीं भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

तीर्थंकर भगवान् ने अर्थ रूप में जो उपदेश दिया, उसे गणधरों ने सूत्र रूप में ढाल कर रचना की। इस द्वादशांगी में तीसरा ठाणांगसूत्र है। उसमें चार प्रकार के उपकारी वृक्ष बतलाये हैं। वह इस प्रकार हैं:—

(१) कई वृक्ष ऐसे होते हैं जो अपने पत्तों से ही जगत् के जीवों का उपकार करते हैं, जैसे ढाक, भोजपत्र आदि। ढाक के वृक्ष के पत्तों की मनुष्य छतरियाँ, दोने और पातल आदि बनाते हैं। भोजपत्रों पर प्राचीन काल में शास्त्र लिखे जाते थे, जो आज भी अनेक भंडारों में उपलब्ध होते हैं।

(२) द्वितीय श्रेणी में वे वृक्ष हैं जो अपने फूलों से ही जगत् को आनन्द पहुँचाते हैं। जुही, मोगरा, गुलाब, चमेली आदि के फूल ही लोगों के काम आते हैं और कई फूलों की रोगापहारिणी शक्ति से अनेक प्रकार के मस्तिष्कशूल समूल नष्ट हो जाते हैं।

(३) तृतीय श्रेणी में वह वृक्ष गिने जाते हैं जो संसार को अपने अमृत के समान मधुर फल चखाते हैं और दुनिया को परोपकार का सबक सिखलाते हैं। उन मिश्री के समान मीठे फलों का सेवन करते ही प्राणी का दिल बाग बाग हो जाता है। आपको मालूम ही है कि भिन्न-भिन्न फलों के भिन्न-भिन्न ही गुण हुआ करते हैं। वे शारीरिक एवं मानसिक विभिन्न रोगों में विभिन्न शक्ति कापरिचय देते हैं।

(४) चौथी श्रेणी में वह वृक्ष गिने जाते हैं जो स्वयं सूर्य के प्रचण्ड ताप को सहन करते हुए दूसरों को शीतल छाया प्रदान करते हैं। जब धरती तवे की तरह तप जाती है और आसमान अंगारे बरसाता है, तब व्याकुल हुए प्राणी वृक्ष की शीतल छाया का आश्रय लेकर अपूर्व शान्ति का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार एकेन्द्रिय वनस्पतिकाय के जीव भी संसार का महान् उपकार करते हैं। किसी कवि ने कहा है:—

रविश्चन्द्रो घना वृक्षा, नदी गावश्च सज्जनाः।
एते परोपकाराय, युगे दैवेन निर्मिताः ॥

अर्थात्—सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, वृक्ष, नदी, गौ और सज्जन पुरुष, मानों दैव ने परोपकार के लिए ही बनाये हैं।

भगवान् ने उपर्युक्त चार प्रकार के उपकारी वृक्षों की तरह ही चार प्रकार के पुरुष बतलाये हैं। वह इस प्रकार हैं—(१) कई पुरुष पत्तों के समान, यथाशक्ति वस्त्र आदि का दान करके दरिद्रों का उपकार करते हैं। (२) कई पुरुष पुष्प के समान बन कर अपने यश-परिमल से जनता का उपकार करते हैं और दुखी जनों को औषध वगैरह देकर साता उपजाते हैं। उनकी सेवा-शुश्रूषा में भी किसी प्रकार की कमी नहीं होने देते हैं। (३) कई पुरुष ऐसे हैं जो अपने पूर्वकृत पुण्योदय से प्राप्त मीठे फलों का दुनिया को भी रसास्वादन कराते हैं। उन पुण्यशील श्रीमंतों के समक्ष जो भी दयनीय दशा वाले प्राणी उपस्थित हो जाते हैं, उन्हें वह भोजन कराते हैं तथा ऐसी किसी आजीविका से लगा देते हैं कि वे जीवन-निर्वाह में समर्थ हो जाते हैं और हमेशा उनका गुण गाया करते हैं। जो अपने पुण्य का फल दूसरों को न चखाए, उससे बढ़ कर अभागा भी और कौन होगा ? (४) चतुर्थ उपकारी पुरुष वह हैं जो अपनी शीतल छाया के समान अपनी करुणा एवं सहृदयता का प्रयोग करके, अपने आश्रितों के आपसी मनमुटाव, वैर-विरोध आदि को मिटाने तथा उनके हृदय विशुद्ध बनाकर शान्ति पहुंचाने में दिलचस्पी लेते हैं। ऐसे शूरवीर, धैर्यवान् और शरणागतप्रति-पालक ही आश्रित जनों को आश्रय देने में समर्थ हो सकते हैं।

भाइयो ! अभी कहा जा चुका है कि एकेन्द्रिय वनस्पति आदि के जीव भी जब परोपकार करते हैं, तो पंचेन्द्रिय संज्ञी

मनुष्य को तो परोपकार करना ही चाहिए। परोपकार करना मनुष्य का महान् कर्त्तव्य है। मनुष्य को दिन-रात अपने हृदय में यही भावना अंकित करते रहना चाहिए कि मेरा जन्म निःस्वार्थ सेवा में व्यतीत हो और परोपकारार्थ प्राणों का विसर्जन करना पड़े तो भी परवाह नहीं। जीवन की सार्थकता, पवित्रता और विशुद्धता परोपकार में ही है। कहा भी है :—

धनानि जीवितं चैव, परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
तन्निमित्तो वरं त्यागो, विनाशे नियते सति ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह अपनी धनसंपत्ति का एवं अपने जीवन का भी परोपकार के लिए उत्सर्ग करे। धन और जीवन अनन्त काल तक बने रहने वाले नहीं हैं। उनका विनाश अवश्यंभावी है। एक न एक दिन उन्हें त्यागना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अगर इनसे पर का उपकार हो सके तो इससे बढ़ कर और क्या बात हो सकती है? परोपकार में जो धन लगता है और जो जीवन समाप्त हो जाता है, वही वास्तव में सार्थक होता है। अपने लिए कौन नहीं जीता? कुत्ता और कौवा भी अपना पेट भरते हैं और अन्त में मर जाते हैं। इसी प्रकार यदि मनुष्य भी स्वार्थ के लिए जीता रहे और परोपकार में अपने तन, मन एवं धन को न लगावे तो उसमें और कौवा-कुत्ता में क्या अन्तर रहेगा?

करुणा, प्रेम और सहृदयता के साथ यदि परोपकार करने में ही अपने जीवन की धन्यता समझोगे तो तुम्हें दिव्य ज्योति प्राप्त होगी और वह ऐसा मार्ग दिखलाएगी कि जिस पर अग्रसर होने से तुम्हारे लिए मुक्तिपथ सुलभ हो जायगा।

एकाग्र होकर जगत् की व्यवस्था पर विचार करो देखो कि इस जगत् में क्या कोई भी मनुष्य केवल अपने ही सहारे जीवित रहता है? अथवा उसे दूसरों के सहयोग की भी अनिवार्य आवश्यकता होती है? विचार करो कि आपको जीवन निर्वाह के लिए तथा आमोद-प्रमोद के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ी है, वह सब क्या आपने स्वयं उत्पन्न कर ली हैं? खाने-पीने की समस्त वस्तुएँ, पहनने ओढ़ने और बिछाने के वस्त्र, लिखने-पढ़ने की तमाम सामग्री, रहने के मकान, आदि-आदि के बिना आपका काम नहीं चल सकता। क्या यह सब वस्तुएँ अपने लिए आप स्वयं उत्पन्न कर लेते हैं? कोई आदमी कितना भी सामर्थ्यशाली क्यों न हो, वह पूर्णरूपेण स्वावलम्बी नहीं हो सकता। अपने काम में आने वाले समस्त साधनों को स्वयं निर्माण नहीं कर सकता।

इस प्रकार जब विचार करते हैं तो स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि प्रत्यक मनुष्य की जिंदगी दूसरों के सहयोग और उपकार पर निर्भर है। अगर किसी दूसरे का सहयोग प्राप्त न हो तो मनुष्य का जीवन निभ ही नहीं सकता।

अब मूल बात पर आइए। जब आप अपने जीवन के लिए दूसरों की सहायता लेते हैं और उस सहायता के अभाव में जीवित नहीं रह सकते, तो क्या आपका भी यह कर्त्तव्य नहीं है कि आप भी दूसरों की सहायता करें? आपके पास जो भी साधन हैं और उन साधनों से जो भी परोपकार हो सकता है, आपको अवश्य करना चाहिए। यही आपकी सज्जनता है, यही आपकी प्रामाणिकता है। जो दूसरों से लेता ही लेता है और बदले में कुछ देता नहीं है, वह दीवालिया है! वह दुनिया में हिकारत की निगाह से देखा जाता है। उसे लोग घृणास्पद समझते हैं। क्या तुम ऐसे बनना चाहते हो?

भाइयो ! सम्पूर्ण प्रकृति तुम्हें परोपकार का पाठ पढ़ा रही है। जिधर देखो उधर ही परोपकार की प्रधानता दिखाई देती है। देखो:—

> परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः,
> परोपकाराय वहन्ति नद्यः ।
> परोपकाराय दुहन्ति गावः,
> परोपकारार्थमिदं शरीरम् ॥

वृक्ष अपने फल, फूल, पत्ते, छाया आदि के द्वारा जगत् का उपकार करते हैं; नदी, नद, झरने, सरोवर आदि जलाशय प्राणियों को शीतल जल प्रदान करके महान् उपकार करते हैं, गाय भैंस आदि दुधारू पशु अमृत के समान दूध पिलाकर आपको जीवन देते हैं। किन्तु इन्हीं परोपकारी पशुओं की क्या दशा हो रही है? इस ओर किसी का तनिक भी ध्यान नहीं। लोग अपने स्वार्थ की पूर्त्ति में संलग्न हैं। दूसरों की उन्हें न चिन्ता है, न परवाह है! दुनिया कैसी तुच्छ भावना को पोषण दे रही है? वृक्ष, नदी, और गाय जैसे भी जब हमारा इतना उपकार कर रहे हैं तो क्या हम मनुष्य-संसार में सर्व श्रेष्ठ प्राणी-होने को दावा करने वाले इनसे भी गये वीते सावित हों? क्या हम अपने विवेक का प्रयोग करके, परोपकार के लिए अपने जीवन को अर्पित करके अपनी महत्ता को प्रकट नहीं कर सकते? अरे, तुम अधिक नहीं कर सकते तो जिन्होंने तुम पर असीम उपकार किया है, उनके प्रति तो सहानुभूति प्रकट करो! उनके प्रति कुछ तो कृतज्ञ बनो!

भाइयो! यह शरीर परोपकार के लिए है। सज्जन पुरुषों का जीवन परोपकार में व्यतीत होता है। वे परोपकार में ही अपना

सारा समय लगाते हैं। जब तक परोपकार का कोई कार्य उनसे न हो जाय, वे चैन नहीं लेते !

जो मनुष्य परोपकार नहीं करता, उसकी अपेक्षा तो पशु ही भला है। पशु जीते जी परोपकार करता है और मरने के पश्चात् भी अपने शरीर के अनेक अवयवों से मानव का कल्याण करता है। किन्तु परोपकार न करने वाले मनुष्य का जीवन किस काम का है? वह जब जीता है तो दूसरों के काम नहीं आता और जब मरता है तो भी काम नहीं आता! वह पृथ्वी का बोझा मात्र है! उससे जगत् को क्या लाभ हुआ? उसकी जिंदगी किसी के क्या काम आई? वह यदि पैदा न होता तो किसी का क्या बिगड़ता था? किसी ने ठीक ही कहा है:—

तृणञ्चाहं वरं मन्ये, नरादनुपकारिणः।
घासो भूत्वा पशून्पाति, भीरून्पाति रणाङ्गणे॥

नीतिकार का कथन है कि जो परोपकार नहीं करता, ऐसे पुरुष की अपेक्षा तो मैं तिनके को ही अच्छा समझता हूँ। बेचारा तिनका घास बनकर पशुओं के प्राणों की रक्षा करता है मगर परोपकारहीन मनुष्य किस की रक्षा करता है? प्राचीन काल में युद्ध के नियमों में एक नियम यह भी था कि जो योद्धा अपनी हार स्वीकार कर लेता था, वह मुँह में तिनका दबा लेता था। फिर उस पर प्रहार नहीं किया जाता था। इस प्रकार युद्धभूमि में भीरु जनों की रक्षा वह तिनका करता था। अतः जो पुरुष किसी की भी रक्षा नहीं करता, वह तिनके से भी तुच्छ है।

एक नीतिकार दो कदम आगे बढ़कर कहते हैं:—

जीवितान्मरणं श्रेष्ठं, परोपकृतिवर्जितात् ।
मरणं जीवितं मन्ये, यत्परोपकृतिमयम् ॥

परोपकार विहीन जीवन की अपेक्षा मरण श्रेष्ठ है और परोपकारी की मृत्यु भी उसका जीवन है ।

परोपकारी पुरुष मर कर भी अमर रहता है; क्योंकि चाहे उसका हाड़-मांस का शरीर विद्यमान न रहे, परन्तु यश-शरीर तो बना ही रहता है। अतएव ज्ञानीजनों का कहना है कि अपने भविष्य का विचार करो और परोपकार में संलग्न हो जाओ।

एक बार एक राजा अपने सिपाहियों के साथ किसी बाग में सैर करने के लिए गया। बाग बड़ा सुहावना था और एक जगह सघन वृक्षावली से मंडित था। गहरी और शीतल छाया देख कर राजा ने एक स्थान विश्राम करने के लिए पसन्द किया। गद्दा बिछा दिया गया और मसनंद लगा दी गई। राजा लेट गया और थोड़ी ही देर में निद्राधीन हो गया।

संयोगवश उधर से एक बटोही निकला। उसके साथ एक कपड़े में बँधी कुछ रोटियाँ थीं, परन्तु कोरी रोटी तो निगली नहीं जाती और बटोही के पास ऐसी कोई चीज नहीं थी जिसके सहारे वह रोटियों को गले में डाल लेता। अतएव वह एक आम के वृक्ष के नीचे बैठ गया। आम के वृक्ष और राजाजी के विश्राम स्थान के बीच आड़ थी। वह जहाँ बैठा था, वहाँ से राजा दिखाई नहीं देता था। मगर आम का वृक्ष विशाल था। उसका कुछ भाग बटोही के ऊपर और कुछ भाग राजा के ऊपर था। पथिक को स्वप्न में भी यह खयाल न था कि दूसरी ओर राजा विश्राम कर रहा है।

पथिक ने विचार किया—एक-दो आम गिरालूँ तो इनके साथ रोटियाँ खाने में सुभीता रहेगा। यह विचार कर उसने आम के एक पत्थर दे मारा। भाग्ययोग से वह पत्थर राजा के ऊपर जाकर पड़ा। राजा सहसा चौंक कर उठ बैठा। उसने हड़बड़ाकर कहा—'जिसने यह पत्थर फैंका है, उसे मुश्कें बाँध कर मेरे सामने हाजिर करो।'

राजा का हुक्म होने की देर थी कि सिपाही दौड़े और उस पथिक को पकड़ कर ले आए। राजा ने उससे पूछा—ऐ मुसाफिर! तू ने मुझको पत्थर क्यों मारा ?

राहगीर ने कहा—पृथ्वीनाथ! आप मेरे अन्नदाता हैं। मेरी क्या हैसियत कि श्रीमान् को पत्थर मारने का साहस कर सकूँ ?

राजा—क्या तुमने यह पत्थर नहीं फैंका ?

राहगीर—महाराज, फैंका तो मैंने ही है। झूठ कैसे बोलूँ ?

राजा—तो फिर पत्थर मारने से मुकरता है ?

राहगीर—हुजूर, पत्थर मैंने फैंका था, परन्तु आपको मारने के लिए नहीं ?

राजा—तो किसलिए ?

राहगीर—मैं एक दो आम गिरा कर उनके साथ रूखी रोटियाँ खा लेना चाहता था। मुझे नहीं ज्ञात था कि इधर श्रीमान् विराजमान हैं। अनजान में मुझसे अपराध बन गया है। क्षमा चाहता हूँ।

यह कह कर राहगीर ने अपने साथ की रोटियाँ राजा को दिखलाईं। राजा ने मन ही मन विचार किया—यह बेचारा गरीब है। सर्वथा निर्दोष है। अनजान में इससे यह बन गया है।

राजा की विचारधारा जरा दूसरी तरफ चली गई। वह सोचने लगा-आम की विशेषता देखिए कि पत्थर मारने वाले को वह मधुर फल प्रदान करता है। मैं पत्थर मारने वाले को मधुर फल तो दूर रहे, उलटा दंड देने को तैयार हुआ हूँ। क्या मैं वृक्ष से भी गया-बीता हूं? मैं मनुष्य और फिर मनुष्यों में भी राजा हूँ। नरनाथ कहलाता हूं! क्या मेरे लिए यही उचित है?

राजा की उच्च भावना बढ़ी। उसने राहगीर को एक हजार रुपया पारितोषिक रूप में दिये। फिर कहा-भाई, यदि तूने पत्थर न फैंका होता तो मेरे अन्तःकरण में परोपकार की भावना उत्पन्न नहीं हुई होती। मैं तेरा आभारी हूँ।

भगवान् का आदेश है कि यदि तुम परोपकार न कर सको तो कम से कम परोपकार की भावना अन्तःकरण में अवश्य रक्खो। जब वृक्ष भी परोपकार करते हैं तो आपको तो परोपकार का खजाना यह शरीर मिला है। आप छोटे से लेकर बड़ा परोपकार भी कर सकते हैं। ऐसी सुन्दर और अनुकूल स्थिति पा करके भी अगर कुछ परोपकार न कर सके तो किस काम आया आपका यह उत्तम कहलाने वाला जीवन? अद्भुत आभा से जाज्वल्यमान यह रत्न बड़ी कठिनाई से मिला है; इसको तिजोरी में बंद करके न रक्खो, बेकार मत बनाओ, बल्कि दिव्य प्रकाश से समस्त संसार को आभासित करो। इसी में तो इस शरीर की सार्थकता है। अन्यथा इससे क्या लाभ उठाओगे?

परोपकार करना ही सज्जन पुरुषों का आभूषण है। मनुष्य की असली महिमा और श्रेष्ठता तो परोपकार से ही है। आभूषण पहन कर बाजार में निकलने वालों की अपेक्षा परोपकारी पुरुष

अधिक प्रतिष्ठा के पात्र होते हैं। उनकी प्रतिष्ठा वास्तविक और स्थायी होती है।

एक वार बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे। कृष्ण महाराज प्रातःकालीन समस्त कृत्यों से निवृत्त होकर और स्वच्छ वस्त्रों एवं आभूषणों से विभूषित होकर हाथी के हौदे पर सवार हो, सेना सहित भगवान् के दर्शन करने और उनकी अमृतवाणी को श्रवण करने के लिए चले। मार्ग में उन्हें एक वृद्ध दिखाई दिया। उसके हाथ-पैर थर-थर काँप रहे थे। सिर काँप रहा था। अत्यन्त कृशकाय था। शरीर का मांस सूख चुका था। केवल हड्डियाँ और चमड़ी ही शेष रह गई थी। एकदम जराजीर्ण था। वह वृद्ध पुरुष एक ईंट उठाकर अपने घर में ले जा रहा था।

श्रीकृष्णजी महापुरुष थे। वृद्ध की यह दयनीय दशा देखकर उनका दयामय हृदय द्रवित हो गया। वह सोचने लगे-इस वेचारे के लिए अपना शरीर ही भार रूप हो रहा है, तिस पर ईंट का भार है! और फिर एक ईंट से क्या होगा? यह सामने वाला ईंटों का ढेर यह कव तक ढोएगा? वेचारा वृद्ध परेशान हो जाएगा!

यह सोचकर श्रीकृष्ण महाराज हाथी के हौदे से नीचे उतरे। उन्होंने ईंटों के ढेर के पास जाकर एक ईंट उठाई और ले जाकर वृद्ध के घर में रख दी।

कृष्णजी का ईंट उठाना था कि सब सैनिक उस ढेर पर ऐसे पिल पड़े जैसे मक्खियाँ गुड़ की भेली पर! बात की बात में ढेर उठ गया!

श्रीकृष्णजी तीन खण्ड के नाथ थे। विपुल वैभव के अधीश्वर और अपने युग के असाधारण महिमाशाली नरेश्वर थे। किन्तु कितने दयालु और कितने परोपकारी !

अगर आप सुन्दर वस्त्र पहन कर कहीं जा रहे हों और रास्ते में आपको ऐसा बूढा मिल जाय तो क्या आप इसी प्रकार उसकी सहायता करेंगे ? अजी, आप ऐसा करने में अपने मान की हानि समझेंगे; अपनी प्रतिष्ठा को धब्बा लगना समझेंगे और सोचेंगे कि कहीं मेरे कपड़ों में दाग न लग जाय ! लेकिन तीन खंड के अधिपति को ऐसा विचार नहीं आया ! बूढ़े की सहायता करने में उन्होंने प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचने का विचार नहीं किया ! उनके इस कार्य से वास्तव में उनके गौरव की वृद्धि हुई। हजारों वर्षों के पश्चात् आज भी उनके सेवाभाव की सत्पुरुष सराहना करते हैं।

बहुत बार लोग प्रतिष्ठा का मापदण्ड ही गलत बना लेते हैं और उसी से अपनी प्रतिष्ठा को नापते हैं। यही कारण है कि वे भूल पर भूल करते ही चले जाते हैं। जिसमें सचमुच जीवन की ऊँचाई है, जिसने उच्चता के हिमशिखर को पा लिया है, उसका जीवन तो सेवा-सहायता के क्षुद्र से क्षुद्र कार्य करने पर भी क्षुद्र नहीं बनता। यही नहीं, वरन् ऐसे कार्य करने से उसके जीवन की ऊँचाई और अधिक बढती है।

श्रीकृष्णजी बनावटी—काल्पनिक उच्चता के धनी नहीं थे; उनमें सच्ची उच्चता थी। इसी कारण उन्होंने बूढ़े की सेवा करने में अपनी हेठी नहीं समझी। जो लोग काल्पनिक प्रतिष्टा के मोह में फँसे होते हैं, उन्हीं के हृदय में ऐसे नीच विचार आते हैं।

भाइयो ! इसी सिलसिले में एक प्रश्न पर और विचार कर लें। प्रश्न यह है कि कृष्णजी के साथ विपुल सैन्यदल था। क्या वे अपने सैनिकों को आदेश देकर वृद्ध की ईंटें नहीं उठवा सकते थे ? क्या किसी भी सैनिक या सेनाधिकारी में उनके आदेश को उल्लंघन करने का साहस था ? नहीं। तो फिर स्वयं हाथी के होदे से नीचे उतर कर ईंट उठाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? उन्होंने आज्ञा देकर सैनिकों से ईंटें क्यों नहीं उठवा दीं ?

भाइयो ! श्रीकृष्णजी के ऐसा करने में गम्भीर रहस्य छिपा हुआ है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कृष्णजी का आदेश अनुल्लंघनीय था। कोई उसे शिरोधार्य करने में ननु नच नहीं कर सकता था। वृद्ध पुरुष की ईंटें भी उठ जातीं और उसकी परेशानी भी बच जाती। मगर कृष्णजी ने स्वयं ईंट उठाकर सेवा और परोपकार का युग-युग जीवित रहने वाला और प्रकाशस्तंभ के समान जन-जन को पथप्रदर्शन करने वाला जो महान स्पृहणीय आदर्श खड़ा कर दिया, वह न होता ! सेवा और परोपकार के जीवित आदर्श को उपस्थित करने के उद्देश्य से ही उन्होंने अपने हाथ से ईंट उठाई। महा पुरुष स्वयं आचरण करके मर्यादाओं की स्थापना करते हैं। कर्मवीर कृष्णजी ने स्वयं ईंट उठाकर परोपकार को महत्ता प्रदान की और झूठी प्रतिष्ठा के भ्रम में पड़े हुए लोगों को कंधा झकझोर कर सजग कर दिया है।

दूसरी आशंका यह की जा सकती है कि यदि परोपकार करना इतना उच्चकोटि का कर्त्तव्य है तो साधु-मुनि परोपकार क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर यह है कि साधु परोपकार नहीं करते, यह कहना ही भ्रमपूर्ण है। साधु शब्द की व्युत्पत्ति ही यह है:—

साधयति पर कार्याणीति साधुः ।

अर्थात्—जो पराये कार्य को सिद्ध करे, जो पर का उपकार करे वह साधु है ।

हाँ, यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि गृहस्थ जीवन और साधुजीवन की मर्यादाएँ पृथक्-पृथक् हैं । अतएव जिस प्रकार का उपकार गृहस्थ कर सकते हैं. उसी प्रकार का सब उपकार साधु नहीं कर सकते । गृहस्थ गृहागत प्यासे को सचित्त जल भी पिला देता है, क्योंकि उसने सचित्त जल का सेवन करने की मर्यादा अंगीकार नहीं की है । वह स्वयं सचित्त जल का उपयोग करता है । परन्तु साधु अपने स्वयं के लिए भी सचित्त जल का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें जलकाय के जीवों की हिंसा का मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग किया है । ऐसी स्थिति में वे किसी दूसरे को भी सचित्त जल नहीं पिलाएँगे । सारांश यह है कि अपने-अपने जीवन की स्थिति के अनुकूल मर्यादाएँ होती हैं । उन मर्यादाओं का संरक्षण करते हुए ही प्रत्येक को चलना होता है ।

इस प्रकार जो परोपकार साधु जीवन की मर्यादाओं का विरोधी नहीं है, वही परोपकार साधु करते हैं । गृहस्थ के लिए भी यही बात है । उसने अपने जीवन की पवित्रता के लिए जो धार्मिक मर्यादाएँ अंगीकार करली हैं, उनको भंग न करते हुए ही वह परोपकार करेगा । उदाहरणार्थ–गृहस्थ श्रावक चोरी और डकैती का त्यागी होता है । उधर दान देना भी उसका कर्त्तव्य है । तो क्या दान देने के लिए वह चोरी करे या डकैती करे ? नहीं । ऐसा करने से उसकी मर्यादा का लोप हो जायगा । उसके जीवन की पवित्रता का आधार ही हिल जायगा ।

तो जिस प्रकार दान देना श्रावक का कर्त्तव्य है, परन्तु वह चोरी करके दान नहीं दे सकता; ऐसा करना उसके लिए योग्य नहीं है, उसी प्रकार परोपकार करना साधु का कर्त्तव्य है, परन्तु वह अपने साधु जीवन की मर्यादाओं का लोप न करता हुआ ही परोपकार करता है।

परोपकार के यों तो अनेक दृष्टियों से अनेक भेद किये जा सकते हैं, परन्तु मोटे तौर पर दो भेद करने से ही यहाँ हमारा काम चल जायगा। वह दो भेद हैं—(१) द्रव्यपरोपकार और (२) भावपरोपकार। भोजन, वस्त्र, औषध आदि भौतिक वस्तुओं के दान से जो भी उपकार होता है, वह द्रव्यपरोपकार कहलाता है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के द्वारा जो उपकार किया जाय वह भावपरोपकार है। द्रव्यपरोपकार से शरीर का उपकार होता है जब कि भावपरोपकार से आत्मा का।

दूसरी बात यह है कि द्रव्य-उपकार से कदाचित् अनिष्ट न हुआ और उपकार्य को शांति भी पहुँची, तो भी वह शान्ति शाश्वत शान्ति नहीं होगी। एक वार भोजन करा देने से भूखे की भूख सदा के लिए नहीं मिट जायगी। वह प्रातःकाल तृप्त होकर भोजन करेगा तो संध्या को फिर भूखा हो जाएगा। एक वार औषध देकर आप रोगी को रोगमुक्त कर देंगे तो वह अनन्त काल के लिए नीरोग नहीं हो जाएगा। अनन्त काल की वात जाने दीजिए, यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह जिंदगी भर के लिए रोगहीन हो जाएगा।

इस दृष्टि से विचार किया जाता है तो स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य उपकार न तो एकान्त उपकार है और न आत्यन्तिक उपकार ही है। किन्तु भाव-उपकार के संबंध में यह बात नहीं है।

भाव-उपकार आत्मा के लिए कल्याणकारी होता है। यह उपकार एकान्त और आत्यन्तिक उपकार है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के द्वारा होने वाला उपकार कदापि अनिष्ट का कारण नहीं हो सकता और वह द्रव्य-उपकार की तरह अल्पकालस्थायी भी नहीं होता। उससे आत्मा का स्थायी और शाश्वत कल्याण होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्रव्य-उपकार की अपेक्षा भाव-उपकार अधिक उत्तम और कल्याणकारी है। सन्त जन धर्म का उपदेश देकर जनता का आत्म-उपकार करते हैं। यही असली और श्रेष्ठ उपकार है। अतएव यह कहना गलत है कि साधु परोपकार नहीं करते।

उपर्युक्त विवेचन में द्रव्य और भाव उपकार की तुलना मात्र की गई है और दोनों की भिन्नता दिखलाई गई है। इसका आशय यह न समझा जाय कि द्रव्य-उपकार का निषेध किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी-अपनी योग्यता, मर्यादा, शक्ति और सुविधा के अनुसार जो भी उपकार कर सकता हो, अवश्य करे और पुण्य का उपार्जन करे।

श्रीकृष्ण महाराज की तरह अभिमान का परित्याग करके आप परोपकार करेंगे तो आपका जीवन भी प्रशस्त, उत्तम और धन्य बन जाएगा और आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

ब्यावर
२५-७-४१ }

चिर विश्राम

स्तुतिः—

उन्निद्रहेमनवपंकजपुञ्जकान्ति—
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? हे प्रभो! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ?

भगवान् ऋषभदेव जब इस भूमण्डल पर विचरण कर रहे थे तो देवगण भगवान् की सेवा में उपस्थित रहते थे। भगवान् जब गमन करते थे तो उनके चरणों के नीचे, पृथ्वी पर देवता स्वर्ण-कमल के अचित्त पुष्पों की रचना करते थे।

यह बात तो आप सभी को ज्ञात है कि प्रभु सचित्त के त्यागी थे। वे स्वयं किसी सचित्त वस्तु का सेवन नहीं करते थे; यही नहीं बल्कि भगवान् की उपासना के लिए जो राजा महाराजा आदि जाते थे, वे भी उनके निकट पहुँच कर पाँच अभिगम करते थे। इन अभिगमों में एक यह भी है कि सचित्त फूलमाला आदि वस्तुओं का त्याग करके ही भगवान् की सेवा में उपस्थित होना चाहिए।

ऐसी स्थिति में सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि देवों द्वारा निर्मित कमल सचित्त नहीं, अचित्त ही होते थे। भगवान् के परमभक्त और विवेकवान् देवों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे सचित्त के त्यागी भगवान् के चरणों तले सचित्त पुष्पों का निर्माण करें।

आचार्य महाराज कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव के चरण स्वतः अतीव सुन्दर थे। खिले हुए स्वर्ण वर्ण कमलों के समान थे। उनके नाखूनों से निकलने वाली किरणों से उनके चरण चमचमाते रहते थे। जिनके चरणों की शोभा अपूर्व है, ऐसे भगवान् ऋषभ-देव को ही हमारा बार-बार नमस्कार है।

भगवान् ने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया है। तीर्थंकर गोत्र नामकर्म की एक प्रकृति है और उसके समान दूसरी कोई पुण्य प्रकृति नहीं है। इस प्रकृति का उपार्जन करने के बीस कारण बतलाये गये हैं। उनमें सब से पहला कारण दर्शन की विशुद्धि है। दर्शन की विशुद्धि का अर्थ है—जिन प्रवचन में प्रगाढ़ श्रद्धा रुचि और प्रतीति रखना। अपने सम्यक्त्व में तनिक भी मलीनता न आने देना; कोई भी अतिचार न लगने देना। दूसरा कारण है—विनीतता। जिनका विनय करना योग्य है उन गुरुजनों का, ज्ञानियों का, प्रवचन का तथा देव का विनय करना। इनके अतिरिक्त मूल

गुणों और उत्तर गुणों का निरतिचार पालन करना, निरन्तर ज्ञानाभ्यास करना, संसार के प्रति आसक्ति का भाव न रखना, शक्ति के अनुसार तपश्चरण करना, मुनिराजों की यथायोग्य सेवा करना, अर्हन्त, आचार्य, श्रुतज्ञानी की भक्ति करना, सदा काल नियमित रूप से आवश्यकक्रिया करना, वीतराग धर्म की प्रभावना करना और साधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य का भाव रखना। इत्यादि वीस कारणों में से सभी कारण हों या अधूरे हों, यहाँ तक कि एक भी कारण हो, लेकिन यदि उत्कृष्ट रसायन आ जाय तभी यह प्रकृति बँधती है। तीर्थंकर प्रकृति का बँधना कोई आसान काम नहीं है। कई भवों की लगातार आत्मसाधना के संस्कार संचित होकर जब उद्बुद्ध होते हैं, तभी इसका बंध होता है।

भाइयो ! अगर आपको उत्कृष्ट पुण्य का संचय करना है तो धर्मक्रिया से विमुख न होकर सदैव रुचि एवं प्रीतिपूर्वक उसका सेवन करना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी समय उत्कृष्ट रसायन आ जाएगी तो आपकी आत्मा मोक्ष की अधिकारिणी बन जाएगी।

धर्म ही इह लोक और परलोक में सुख देने वाला है। अतएव उसकी रक्षा बड़ी सावधानी से करना चाहिए। मैं कई बार कह चुका हूँ कि मनुष्य का जन्म ही धर्म की आराधना करने के लिए सब से अधिक उपयुक्त है। अतएव इस अनमोल रत्न को व्यर्थ नहीं गँवा देना चाहिए। इसकी पूरी और अच्छी कीमत वाँटनी चाहिए।

श्रीठाणांगसूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के विश्राम बतलाए हैं। किसी कार्य को करते समय बीच में थकावट दूर करने और ताजगी लाने के लिए जो आराम किया जाता है, उसे विश्राम कहते हैं। चार विश्रामों का स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) मान लीजिए कि कोई पुरुष वजन लेकर चला। रास्ते में थक गया। तब उसने एक कंधे से दूसरे कंधे पर वजन ले लिया। ऐसा करने से उसे कुछ विश्रान्ति मालूम पड़ती है। यह पहला विश्राम है।

(२) वही पुरुष वजन को नीचे रख कर लघुशंका या दीर्घ-शंका करने चला जाता है। इस बीच उसे जो विश्राम मिलता है, दूसरा विश्राम कहलाता है।

(३) भारवाही पुरुष किसी देवालय, धर्मशाला या सराय के पास पहुंच कर विचार करता है कि रात भर यहीं ठहर कर प्रातःकाल इस वजन को आगे ले जाऊँगा। ऐसा सोच कर वह रात भर वहीं विश्राम करता है। यह तीसरा विश्राम है।

(४) वजन ढोने वाला अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाता है और वहाँ भार उतार कर फिर जो विश्राम करता है, वह चौथा विश्राम है।

यह चार प्रकार का विश्राम प्रत्येक प्राणी ले सकता है; क्योंकि वजन गाँव से शहर अथवा शहर से गाँव तक ही ले जाया जाता है। उसे ले जाना अथवा न ले जाना या बीच में ही छोड़ देना मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर है।

किन्तु अनादि काल से जन्म-मरण के चक्र में घूमने वाले संसारी जीव को विश्राम मिलना बड़ा ही कठिन है। इस वजन से विश्राम पाने के लिए जीव को अपनी इच्छाशक्ति का निरोध करके गहन और तीव्र तपश्चर्या करनी होगी। तभी कहीं शान्ति प्राप्त हो सकती है। ऐसा किये बिना तो चौरासी का चक्कर बंद होगा नहीं।

अपने स्वरूप को न पहचानने के कारण और विभाव परिणति में परिणत हो कर इस आत्मा ने संसार की सभी योनियों में जन्म धारण किया है। कोई ऐसी योनि नहीं बची और लोकाकाश का ऐसा कोई भूभाग शेष नहीं रहा, जहाँ अनन्त-अनन्त वार इस आत्मा ने जन्म न ग्रहण किया हो और मृत्यु की भयावह वेदना न भुगती हो। कहा भी है:—

न तद् दुःखं सुखं किञ्चिन्न पर्यायः स विद्यते,
यत्र ते प्राणिनः शश्वद्यातायातैर्न खण्डिताः।
स्वर्गी पतति साक्रन्दं, श्वा स्वर्गमधिरोहति,
श्रोत्रियः सारमेयः स्यात् कृमिर्वा श्वपचोऽपि वा॥

संसार में असंख्य प्रकार के दुःख हैं और असंख्य ही प्रकार के सुख भी हैं। मगर ऐसा कोई सुख-दुःख शेष नहीं रहा, जिसे इस जीव ने न भोगा हो। ऐसी कोई पर्याय भी नहीं है जिसमें यह न रह चुका हो। यह आत्मा सर्वत्र आवागमन कर चुका है। स्वर्ग का देवता चीखता-चिल्लाता हुआ पतन के गर्त्त में गिरता है और कुत्ता मर कर देव हो जाता है। बड़ा भारी क्रियाकाण्डी कुत्ते के रूप में जन्म ले लेता है, कीड़ा बन जाता है या चाण्डालयोनि में उत्पन्न हो जाता है।

पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो संसार भांति-भांति के दुःखों का घर है। यहां किसी भी प्राणी को वास्तविक सुख नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी परिस्थिति में दुखी ही दिखाई देता है। किसी से भी पूछ लो कि—भाई! तुम पूरी तरह सन्तुष्ट और सुखी हो? किसी प्रकार के दुःख का काँटा तो हृदय में नहीं साल रहा है? इस प्रकार प्रश्न करने पर निश्चय

ही वह अपने दुःखों की लम्बी गाथा आपको सुनाने लगेगा। आप दंग रह जाएँगे और सोचेंगे कि—अहा, जिसे हम सब प्रकार से सुखी समझते थे, वह तो दुःखों से अभिभूत हो रहा है और हमारी अपेक्षा तनिक भी कम दुःखी नहीं है।

साधारणतया देखा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्थिति में असन्तुष्ट रहता है और अपने से भिन्न दूसरी स्थिति में सुख की कल्पना करता है। व्यापारी सोचता है—हमें रात दिन नफा नुकसान की चिन्ता करनी पड़ती है, सुबह से रात्रि के दस बजे तक ग्राहकों की राह देखनी पड़ती है। ग्राहक आजाता है तो उसकी खुशामद करनी पड़ती है। बाहर से माल मँगाते समय हानि हो जाय तो नुकसान उठाना पड़ता है। न दिन में चैन, न रात में फुर्सत! नौकरी का पेशा करने वाले लोग कैसे मजे में हैं! नियत समय काम पर गये और समय पूर्ण होते ही जूते पहन कर चले आये! आगे पीछे की कोई फिक्र नहीं, कोई चिन्ता नहीं! पहली तारीख होते ही नकद नारायण का समागम हो जाता है।

अब किसी नौकरीपेशा से मिलिए। वह कहेगा—अजी, नौकरी करना अपने भाग्य को बेच देना है! कभी इसकी गुलामी करो, कभी उसकी चापलूसी करो। जरा भी काम में त्रुटि हो जाय तो फटकार सुनो। अपमान सहन करो। पराधीन होकर जिंदगी बिताओ और गिनती के पैसे पाओ! व्यापार करना शाही धंधा है। अपने मालिक आप, अपने राजा आप! किसी की पराधीनता नहीं, चापलूसी नहीं। आराम से गद्दी तकिया लगाकर शाह बने बैठे रहना है!

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य दूसरों की परिस्थिति में सुख समझता है और वह स्वयं जिस स्थिति में है, उसे दुःखपूर्ण मानता

है। इस विषय में गहराई से विचार करेंगे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि सभी दुख का शिकार हो रहे हैं। किसी को सुख नहीं, शान्ति नहीं, सन्तोष नहीं। तत्त्वज्ञानी पुरुष इस रहस्य को सम्यक् प्रकार से समझते हैं। इसी कारण वे संसारी जीवों के दुःख से द्रवित होकर उन्हें सावचेत करते हैं और मोह की नींद से जगाते हैं। वे कहते हैं—

जन्म दुःखं जरा दुःखं, मृत्युदुःखं पुनः पुनः।
संसार सागरे दुःखं, तस्माजागृत जागृत ॥

इस संसार रूपी सागर में जन्म लेना दुःख है, जरा दुःख रूप है और मौत तो दुःख रूप है ही। फिर यह दुःख एक बार हो सो बात नहीं है। बार बार इन दुःखों की आवृत्ति होती ही रहती है। सार यह है कि संसार दुःखमय है। अतएव हे भव्यो! जागो, जागो; मोह की निद्रा का परित्याग करो और इन दुःखों से छुटकारा पाने का यत्न करो।

भाइयो! संसार दुःखों और उपद्रवों का घर है, यह एक ऐसा सत्य है कि इसके लिए किसी की साक्षी की आवश्यकता नहीं है। आपका निज का अनुभव ही साक्षी स्वरूप है। मनुष्य और तिर्यञ्च गतियों की हालत तो आप प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं। फिर भी आप माया जाल से बाहर निकलने का यत्न नहीं करते?

याद रखो, जो व्यक्ति माया में जितना ही अधिक फँसा हुआ है, वह उतना ही अधिक दुःखी है। कई लोग दुःखों से छूटना तो चाहते हैं परन्तु छूटने का सच्चा उपाय न करके उलटा उपाय करते हैं। परिणाम यह आता है कि जैसे दलदल में फँसा

हुआ मनुष्य ज्यों-ज्यों वाहर निकलने के लिए हाथ पैर फड़फड़ाता है, त्यों-त्यों और अधिक फँसता जाता है, वैसे ही अज्ञानी जीव भी दुःखों से मुक्त होने के प्रयत्न में और अधिक दुःखों का निर्माण कर लेते हैं। कई अविवेकी तो दुःख से छुटकारा पाने के उद्देश्य से जहर खाकर आत्मघात कर लेते हैं। कई रेल के नीचे आकर प्राण विसर्जन कर देते हैं और कई जलाशय में डूब कर मर जाते हैं! ऐसे लोग समझते हैं कि वर्त्तमान स्थूल शरीर का त्याग कर देने से ही दुःखों से छुटकारा मिल जाएगा। परन्तु वे गम्भीर भ्रम में है। दुःखों का मूल कारण यह स्थूल शरीर नहीं है; बल्कि कार्मण शरीर है. जो सूक्ष्म है और इस दिखाई देने वाले शरीर का त्याग कर देने पर भी नहीं छूटता। वह तो बीज के रूप में मरने के बाद भी आत्मा के साथ रहता है और उसकी विद्यमानता में नये सिरे से फिर स्थूल शरीर को प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस शरीर का विसर्जन कर देने पर भी कोई लाभ नहीं हो सकता। बल्कि आत्मघात करने वाले दुःखों के और अधिक गहरे गर्त्त में गिरते हैं, जो शायद नरककुण्ड से कम गहरा नहीं होता। हाँ, दुःखों से बचने के लिए अगर शरीर को ही नष्ट करना है तो उस शरीर का नाश करो जो समस्त दुःखों का मूल है, जो तमाम मुसीबतों की जड़ है और जिसे जिनेन्द्र देव ने कार्मण शरीर कहा है। उसका एक बार भी अगर नाश कर सके तो सदा के लिए सब कष्टों से मुक्ति मिल जायगी।

कार्मण शरीर कर्मों का पिण्ड है। उसका नाश करने का सरल उपाय शीलव्रत को धारण करना है। यही कारण है कि सूत्रकार ने पहला भावविश्राम शीलव्रत को धारण करना ही बतलाया है।

शीलव्रत सब व्रतों का प्राण है। उसके सद्भाव में सभी

व्रत ठहर सकते हैं, परन्तु अभाव में कोई भी व्रत नहीं ठहर सकता श्रीउत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन में वतलाया गया है कि नाना प्रकार के शील का पालन करने वाले देवगति को प्राप्त होते हैं। वे वहाँ बड़े तेजस्वी होते हैं और अत्यन्त उत्तम होते हैं। उन्हें दिव्य कामभोगों की प्राप्ति होती है। इच्छानुसार अपना रूप बनाने में समर्थ होते हैं। अति दीर्घकाल पर्यन्त वे स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं।

देवगति की आयु जब पूर्ण हो जाती है तो उन्हें मनुष्यगति की प्राप्ति होती है। मनुष्य भी साधारण नहीं, अपितु दस प्रकार की समृद्धि से युक्त होते हैं। उन्हें क्षेत्र (खेत), रहने के लिए महल-मकान, सोना-चांदी, गाय-भैंस आदि पशुधन, नौकर-चाकर, इष्ट रूप रस गंध स्पर्श और पौरुष की प्राप्ति होती है। उनके अनेक मित्र सहायक होते हैं, उत्तम जाति की प्राप्ति होती है, उच्च गोत्र मिलता है, शरीर सौन्दर्य प्राप्त होता है। वे नीरोग, बुद्धिशाली, कुलीन और यशस्वी होते हैं। इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त होकर वे अपनी आयु के अनुसार अनुपम भोग भोगते हैं और फिर बोधिलाभ करके संसार का त्याग करके संयम पालते हैं। तपस्या के द्वारा समस्त कर्मों का नाश करके शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं।

शीलव्रती का भविष्य कैसा निश्चित होता है, यह समझने के लिए शास्त्र के इस कथन पर आपको ध्यान देना चाहिए। इस कथन से स्पष्ट है कि शीलव्रती लौकिक सुख भी पाता है और अन्त में लोकोत्तर सुखों का भी भाजन बनता है। अल्पकालस्थायी मनुष्य पर्याय में शील का पालन करने से सागरोपमों तक की आयु वाले देवभव में अपूर्व लौकिक सुख भी मिलते हैं और मोक्ष भी प्राप्त होता है। यह है शील का महान् प्रभाव !

जिस कार्य से शीतलता की प्राप्ति हो, वही शीलव्रत है। जो कुशील का सेवन न करता हुआ सुशीलता को धारण करता है, वह सहज ही आवागमन की परम्परा रूप भवाटवी को उल्लंघन करके अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

संसार में अष्ट कर्मों का जाल फैला है। उस जाल को काट कर शीलव्रती ही सकुशल बाहर निकलता है।

जैनशास्त्रों में शील की महिमा बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में वर्णन की गई है। शील का अर्थ भी बहुत व्यापक लिया गया है। उसके चौरासी हजार भेद बतलाये गये हैं और सभी प्रकार के चारित्र का समावेश शील में ही किया गया है। कहा भी है—

शीलं नाम नृणां कुलोन्नतिकरं शीलं परं भूषणम्,
शीलं चाशु करोति पावकजलं शीलं सुगत्यावहम्।
शीलं दुर्गतिनाशनं च विपुलं शीलं यशः पावनम्,
शीलं निर्वृतिहेतुरेव परमं शीलं तु कल्पद्रुमः॥

अर्थात्—शीलधर्म मनुष्यों के कुल को उन्नत करने वाला है—कुल की प्रतिष्ठा की वृद्धि करता है, शील सब से श्रेष्ठ आभूषण है। शील के प्रभाव से शीघ्र ही अग्नि भी जल बन जाती है। शील परभव में सुगति का दाता है और दुर्गति का विनाश करने वाला है। शील पालन करने का यश बड़ा ही पावन होता है। शील से ही मुक्ति प्राप्त होती है। कहाँ तक शील की महिमा का वर्णन किया जाय? थोड़े शब्दों में यों कहना चाहिए कि शील कल्पवृक्ष के समान है। जैसे कल्पवृक्ष सभी चिन्तित और अभिलषित पदार्थों का दाता है, उसी प्रकार शील से भी सभी इष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है।

वास्तव में देखा जाय तो इस अखिल भूमण्डल में शील से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। शील ही हमारा बन्धु है, शील ही हमारा मित्र है; शील ही हमारी माता और शील ही हमारा पिता है।

शील सम्पन्न पुरुष में अद्भुत और आश्चर्यजनक बल आ जाता है। तीन लोक की समग्र शक्ति पूंजी भूत होकर भी शीलवान् का बाल भी बांका नहीं कर सकती। कहा भी है—

शीलेन रक्षितो जीवो, न केनाप्यभिभूयते।
महाह्रदनिमग्नस्य, किं करोति दवानलः॥

जिस मनुष्य की रक्षा शील करता है वह किसी से अभिभूत नहीं हो सकता। उसका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। जैसे सरोवर में डुबकी लगाने वाले की दावानल कोई हानि नहीं कर सकता, उसी प्रकार शील जिसकी रक्षा कर रहा है, उसका कोई कुछ भी तो नहीं बिगाड़ सकता!

शील वह दिव्य और अमोघ कवच है, जिसे धारण कर लेने पर शत्रुओं के समस्त आक्रमण विफल हो जाते हैं।

शील रूपी कुसुम के आमोद में अपूर्व मादकता होती है। शील का सौरभ दिगदिगन्त में प्रसृत हो जाता है। उसकी पावनी सुगन्ध से संसार पवित्र बन जाता है।

जिस शील की ऐसी अमित महिमा है, जिसके प्रभाव से देवता भी किंकर बन जाते हैं, प्रकृति भी अपना प्रतिकूल रूप पलट कर अनुकूल बन जाती है, जो संसार में सब से प्रबल सहायक है, जो जीवन का सार है और जिसके अभाव में जीवन का मूल्य

फूटी कौड़ी के समान भी नहीं है, जिसके द्वारा जीवन में अनिर्वचनीय तेजोराशि प्रस्फुटित होती है और जो सभी इष्ट वस्तुओं का देने वाला है, उस शील को किन शब्दों द्वारा प्रकट किया जाय ? क्या कह कर उसके स्वरूप को प्रकाशित किया जाय ? सच तो यह है कि शील के समस्त अंगों का वर्णन करना संभव नहीं है, तथापि उसके कुछ अंगों का निर्देश इस प्रकार किया गया है:—

अद्रोहः सर्वभूतेषु, कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानञ्च, शीलमेतद्विदुर्बुधाः ॥

अर्थात्—ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि विश्व के किसी भी प्राणी के प्रति द्रोह का भाव उत्पन्न न होना, सब के ऊपर अनुग्रह की बुद्धि रखना और यह सब भी मन, वचन और काय से होना तथा दान देना शील का स्वरूप है ।

भाइयो ! शील का संक्षिप्त स्वरूप यह है । इस पर अगर गहन विचार किया जाय तो महीनों लग सकते हैं । शील के इस स्वरूप में धर्म और नीति के समग्र तत्त्वों का समावेश हो जाता है । कोई बात ऐसी नहीं रह जाती, जिसका इसमें समावेश न हो ।

सब से पहली बात है—मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी का द्रोह न करना । अर्थात्—जगत् में जितने भी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक प्राणी हैं, मन में उनका अनिष्ट होने या करने का विचार उत्पन्न न होना, वचन से किसी का अनिष्ट न करना और शरीर से भी अनिष्ट प्रवृत्ति न करना, अर्थात् किसी तरह से किसी भी प्राणी के प्रतिकूल चेष्टा न करना शील का प्रथम लक्षण है । इस लक्षण में भगवती अहिंसा, और भगवान् सत्य की स्पष्ट झांकी दिखाई दे रही है ।

प्रश्न हो सकता है कि किसी जीव के विरुद्ध कोई प्रवृत्ति न करना तो निषेध मात्र है। क्या शील का स्वरूप अभावात्मक ही है? यह तो बतला दिया गया है कि प्राणी के प्रतिकूल व्यवहार न करना शील है, परन्तु कुछ विधान भी तो करना चाहिए! अर्थात् शील पालने के लिए कुछ करना भी पड़ता है या नहीं? इसका उत्तर देने के लिए कहा है:—

अनुग्रहश्च दानश्च ।

अर्थात्—प्राणी मात्र पर अनुग्रह–अनुकम्पा करना और दान करना भी शील का स्वरूप है।

अनुग्रह का दायरा भी बहुत विशाल है। शक्ति के अनुसार दूसरों की सेवा–शुश्रूषा करना, सहायता करना, उनके संकट को दूर करना, किसी के सामने कोई विषम परिस्थित हो तो उसे सम बनाना, उसकी असुविधाओं को दूर करना, कोई किसी भ्रम या लालच में पड़कर सन्मार्ग का परित्याग करके कुमार्ग में जा रहा हो तो उसे समझा–बुझा कर पुनः सन्मार्ग पर लाना, अज्ञानी के अज्ञान का निवारण करके उसे ज्ञान की ज्योति प्रदान करना, रोगी को नीरोग बनाने के लिए प्रयत्न करना, उसे आत्मकल्याण का पथ दिखलाना; तात्पर्य यह है कि जिस प्रयत्न से किसी प्राणी को सुख–साता और शान्ति प्राप्त हो ऐसा कोई भी प्रयत्न करना अनुग्रह के अन्तर्गत है।

जब मनुष्य की समस्त शक्तियाँ परोपकार में लग जाती हैं, दूसरों की भलाई के लिए जब वह अपने जीवन को पूरी तरह अर्पित कर देता है और अपनी आत्मा को ऊँचा उठाने के उद्योग में संलग्न होता है तब उसमें शील का अपने–आप विकास हो जाता है।

शील के स्वरूप को बतलाने के लिए तीसरी बात बतलाई गई है दान। दान के संबंध में जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। दान से इस लोक में यश का प्रसार होता है और ममत्व का त्याग होने से आत्मा का कल्याण होता है। दान परम वशीकरण मंत्र है। दान के प्रभाव से वैरी भी बन्धु बन जाते हैं। अतएव भारतवर्ष के सभी धर्म एक स्वर से दान की महिमा प्रकाशित करते हैं। इस देश में प्राचीन काल में बड़े से बड़े दानी हो चुके हैं, जिन्होंने दूसरों के कल्याण के लिए अपने जीवन को देने में भी संकोच नहीं किया।

इस प्रकार किसी प्राणी के साथ द्रोह या वैर-विरोध न करना निवृत्ति है और अनुग्रह करना तथा दान करना प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति और निवृत्ति के मेल से शील का स्वरूप परिपूर्ण होता है। शील रूपी रथ के यह दो चक्र हैं। इन्हीं से शील-रथ अग्रसर होकर शीलवान् को अपने लक्ष्य तक पहुँचाता है।

शील का पूरी तरह पालन किया जा सके तो सर्वोत्तम है। किन्तु जो मनुष्य गृहस्थाश्रम की झंझटों में पड़े हुए हैं, उनसे शील का पूर्ण रूप से पालन नहीं हो सकता। आरंभ और परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग करने पर ही पूर्ण शील का परिपालन हो सकता है। अतएव अधिकारी के भेद से शील की दो श्रेणियाँ बतलाई गई हैं—सर्वदेश शील और एकदेश शील। जो पूर्णरूपेण शील का पालन न कर सकते हों, उन्हें एकदेश शील का पालन तो करना ही चाहिए।

संसार रूपी भयंकर अटवी को पार करने में आरंभ और परिग्रह रूपी दो राक्षस ही बड़े बाधक हैं। अतएव जो कमजोर होते हैं, उन्हें वापिस लौटना पड़ता है। धन, दौलत, महल, मकान,

जमीन, स्त्री, पुत्र आदि सब परिग्रह के अन्तर्गत हैं। संसार के जिस किसी भी पदार्थ पर आपका ममत्व होता है, जिस पर आपकी आसक्ति होती है, वह सब आपके लिए परिग्रह है। शास्त्र में कहा हैः-

मुच्छा परिग्गाहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ॥

अर्थात्-तीर्थङ्कर और गणधर भगवान् ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है।

परिग्रह को संचित करने के लिए जो व्यापार किया जाता है, वह आरंभ कहलाता है।

भाइयो! इस परिग्रह को संचित करने के लिए खून का पसीना करना पड़ता है, परन्तु इसका दुरुपयोग करने में कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। जिस धन को प्राप्त करने में अठारह ही पापों का सेवन किया जाता है, उसी को अज्ञानी जीव फिर पापकार्य में, अति रसिक होकर खर्च करते हैं। यह कितनी बड़ी भूल है?

जो मनुष्य ठोकर ही न खाये वह उत्तम है। जो एक बार ठोकर खाकर संभल जाता है और दूसरी बार ठोकर नहीं खाता, वह मध्यम कोटि का समझना चाहिए। किन्तु जो ठोकर खाकर भी नहीं संभलता और ठोकर पर ठोकर खाता रहता है, वह अधम है! उसका सुधार होना कठिन है! वह धिक्कार के योग्य है!

सच तो यह है कि परिग्रह घोर अनर्थकारी है। यह मनुष्य से अकरणीय कार्य करा लेता है। अनाचरणीय का आचरण करा लेता है परिग्रह की लालसा के वशीभूत होकर मनुष्य कितना गिर जाता है और किस प्रकार मानव से दानव बन जाता है, यह बात किसी से और आपसे छिपी नहीं है। यह परिग्रह ही तो है जो

मनुष्य को चोर बनाता है, डकैत बनाता है, खूनी बनाता है और घोर से घोर अकृत्य करवाता है।

एक बार एक मुनिराज अपने शिष्य के साथ विहार करते हुए जा रहे थे। नीची दृष्टि करके, चार हाथ जमीन देखते हुए, चलना मुनि का धर्म है। दोनों गुरु-शिष्य इसी प्रकार जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने पीले रंग का चमकता हुआ आभूषण देखा। तब शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया—गुरुदेव, यह क्या चीज है ?

गुरु ने ईषत् स्मित के साथ कहा—यह मनुष्य की जान लेने वाली वस्तु है।

शिष्य—सो कैसे ?

गुरु—चलो, बतलाता हूँ।

गुरु शिष्य को लेकर एक झाड़ी के पीछे छिप कर बैठ गए। थोड़ा ही समय व्यतीत हुआ था कि दोनों विरोधी दिशाओं से दो सिपाही तलवार बन्दूक लिए निकले। दोनों की दृष्टि उस चमकती चीज पर पड़ी। दोनों समझ गए कि यह सोने का आभूषण है। दोनों उसे उठा लेने को तैयार हुए। किन्तु आभूषण एक था और लेने को उद्यत दो थे। अतएव संघर्ष उपस्थित हो गया। दोनों ने उस पर अपना-अपना अधिकार जमाया। एक ने कहा—मैंने इसे पहले देखा है, अतएव इस पर मेरा अधिकार है। दूसरे ने कहा—नहीं, तुम्हारे देखने से पहले ही मैंने देख लिया था। अतएव इस पर तुम्हारा नहीं, मेरा अधिकार है।

इस प्रकार दोनों में तकरार बढ़ गई। गाली-गलौज की नौबत आ गई। इसके पश्चात् म्यानों में से तलवारें निकल आईं।

और एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। थोड़ी ही देर में उस तुच्छ पदार्थ के लिए दोनों आपस में कट कर मर गये !

तब शिष्य ने गुरु से पूछा—हमने भी तो इस जेवर को देखा था, फिर हमारे ऊपर यह असर क्यों नहीं हुआ ?

गुरु ने कहा—हम लोग इसे पहले ही त्याग चुके हैं।

भाइयो ! आशय यह है कि परिग्रह दुःख का मूल है; अतएव इसे त्यागने का ही प्रयत्न करना चाहिए। कहा भी है:—

परिग्रहमहत्वाद्धि, मज्जत्येव भवाम्बुधौ ।
महापोत इव प्राणी, त्यजेत्तस्मात् परिग्रहम् ।।

जैसे पत्थर की नाव भारी होने के कारण समुद्र में डूब जाती है, उसी प्रकार जो प्राणी परिग्रह के भार से भारी होता है, वह संसार-सागर में डूब जाता है। अतएव जिसे डूबने की इच्छा न हो, उसे चाहिए कि वह परिग्रह का परित्याग करे।

और भी कहा है:—

असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम् ।
मत्वा मूर्छाफलं कुर्यात्, परिग्रहनियन्त्रणम् ।।

अर्थात्—मूर्छा के फलस्वरूप असन्तोष की उत्पत्ति होती है; आत्मीय जनों पर भी विश्वास नहीं रह जाता और दुःख का कारण भूत आरंभ-समारंभ करना पड़ता है। मूर्छा के इन कुपरिणामों को देखकर विवेकी जनों का कर्त्तव्य है कि वे परिग्रह को त्याग करें अथवा कम से कम उसकी मर्यादा करें।

कौन नहीं जानता कि यह धन बाप को बेटे से, पति को पत्नी से, भाई को भाई से, बहिन को भाई से अलग-अलग करा देता है। धन के लोभ से लोग देश-विदेश में भटकते फिरते हैं। आत्मसम्मान को, इज्जत-आबरू को तथा कुलीनता को भी ताक पर रख कर दीन-हीन बन जाते हैं। अरे कहाँ तक कहा जाय, यह धन इतना अधम है कि मनुष्य को एकदम विवेकहीन और अंधा बना देता है। धन के प्रलोभन में पड़कर पुत्र, पिता की हत्या कर डालता है, स्त्री अपने पति के प्राण ले लेती है और भाई भाई को मौत के घाट उतार देता है। ऐसा करने में भी उन्हें लज्जा, संकोच या झिझक का अनुभव नहीं होता।

भाइयो! तनिक विचार करो कि यह धन कितने अन्याय और कितने अत्याचार करा रहा है! फिर भी अज्ञानी जन इसी की प्राप्ति में मौज मान रहे हैं। दिखाई पड़ता है—मनुष्य की बुद्धि पर पर्दा पड़ा हुआ है। धन ने मनुष्य की मनुष्यता को दबा दिया है। वह एकदम विचारहीन होकर अनर्थों के मूल इस धन की ही उपासना में संलग्न है और वास्तविकता का जरा भी विचार नहीं करता। धन का प्रलोभन मनुष्य को पतन के कितने गहरे गर्त्त में गिरा देता है, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। एक उदाहरण लीजिए:—

राजा भोज के पिता जब मरने लगे तो राज्य की देखरेख का काम अपने छोटे भाई मुंज को सौंप गये। उस समय भोज सिर्फ बारह वर्ष का था। उसे सिंहासन पर बिठला दिया गया; परन्तु राज्य संचालन की सत्ता मुंज के पास रही। भोज विद्याओं और कलाओं के शिक्षण के लिए कलाचार्य-ऋषि के पास भेज दिया गया। भोज की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। थोड़े ही समय में उसने काफी ज्ञान प्राप्त कर लिया।

उधर मुंज के मन में विकृति उत्पन्न हो गई। उसने सोचा-भोज अब स्वयं राज्यभार संभालने योग्य हो रहा है। जब इसके हाथ में सत्ता आ जाएगी तो मेरा वर्चस्व कम हो जाएगा। भोज मेरे प्रति न जाने कैसा सलूक करेगा ? अगर भोज को मरवा डाला जाय तो मैं आजीवन निष्कंटक राज्य भोगूँगा। यही नहीं, सदा के लिए मेरी सन्तान राज्य की अधिकारिणी हो जाएगी ! किसी को कानोंकान भी खबर नहीं पड़ेगी।

इस प्रकार मुंज के मन में पाप उत्पन्न हुआ। उसने अपने अत्यन्त विश्वासपात्र आदमियों को बुला कर कहा—आज तुम्हारी परीक्षा का दिन है। तुम्हारे ऊपर मुझे पूरा भरोसा है। मैं आशा करता हूँ कि आज तुम्हारे जिम्मे जो काम सौंपा जा रहा है, उसे तुम बहुत सावधानी, होशियारी और जिम्मेवरी के साथ करोगे। याद रखना, यह बात पूरी तरह गुप्त रहनी चाहिए।

आदमियों ने चापलूसी करते हुए कहा-अन्नदाता के लिए सिर तैयार है ! आपका हुक्म होना चाहिए। जिस प्रकार आप कहेंगे, उसी प्रकार सब काम हो जाएगा।

मुंज ने कहा-देखो, आज कोई मामूली काम नहीं सौंपा जा रहा है। बड़ा महत्त्वपूर्ण और गुह्य काम है। वह यह कि राजकुमार जब पाठशाला से लौटे तो उसे बाग में सैर कराने के बहाने बाहर ले जाना और वहाँ मार डालना।

आदमियों ने कहा-अन्नदाता का वचन प्रमाण है !

भोज संध्या के समय पाठशाला से लौट कर राजमहल में आया। उन निर्दय दुष्टों ने उसे बगीचे में चलने के लिए फुसलाया

और आग्रह किया। सरलस्वभाव और छल-कपट से अनभिज्ञ राजकुमार उनके साथ बाग में चला गया।

बाग में पहुँच कर और एकान्त स्थान में ले जाकर उन लोगों ने भोज से कहा—'राजकुमार, भगवान् का नाम लेना हो तो ले लीजिए। आपके प्राण त्याग का समय आ पहुँचा है। महाराज मुञ्ज ने हमें आज्ञा दी है कि आज आपका काम तमाम कर दिया जाय!'

यह कह कर उन आदमियों ने तलवार निकाली। भोज बड़ा ही बुद्धिमान् और अवसर का ज्ञाता था। आदमियों की बात सुनकर वह एकदम खिलखिला कर हँस पड़ा।

सिपाही—जब मृत्यु आँखों के आगे नाच रही है, तब आपके हँसने का कारण क्या है?

भोज—हँसी का कारण मैं तुम्हें नहीं बता सकता। अगर मुञ्ज को यहाँ ले आओ तो उन्हें बता दूंगा।

सिपाही—वह यहाँ कैसे आ सकते हैं?

भोज—अच्छा, तो मैं कागज के टुकड़े पर हँसी का कारण लिख देता हूँ। तुम ले जाकर उन्हें बतला दो। उसे देखने के बाद वह जो आज्ञा दे, करना।

सिपाहियों ने यह बात स्वीकार कर ली। भोज ने कागज पर एक श्लोक लिख कर भेज दिया। उस श्लोक का आशय यह था कि—ऐ मुञ्ज काका! इस भूतल पर बड़े-बड़े राजा-महाराजा,

सम्राट् और चक्रवर्त्ती आदि हो चुके हैं। उन्होंने पृथ्वी पर शासन किया। शासन करने के लिए घोर संग्राम किया। असंख्य मनुष्यों के प्राणों की वलि ली। किन्तु अन्त में वह सभी मर गए। जब मरे तो खाली हाथ गए। यहाँ तक कि उनका शरीर भी उनके साथ नहीं गया। लेकिन मुझे जान पड़ता है कि आप इस पृथ्वी को अपने साथ अवश्य ले जाएँगे।

नैकेनापि समं गता वसुमती।
नूनं त्वया यास्यति ॥

इस कागज को पढ़ कर मुञ्ज के पैरों तले कि जमीन खिसक गई। उसे अपने भविष्य का विचार आया। वह सोचने लगा—क्या सचमुच ही मैं इस जमीन को साथ ले जा सकूंगा? नहीं, यह यहीं रह जाएगी और इसे प्राप्त करने के लिए किये गये विश्वास-घात, कपट और प्राणनाश का पाप ही मेरे साथ जाएगा। हाय, मैंने कितना अधम विचार किया? मैं किस प्रयोजन के लिए अपनी आत्मा को नरककुण्ड में डालने को तैयार हो गया? आह, भोज ने मेरे नेत्र खोल दिये! वत्स भोज! तुम मेरे गुरु हो!

इस प्रकार का विचार आते ही मुञ्ज के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। वह अपनी दुष्ट प्रवृत्ति के लिए घोर पश्चात्ताप करने लगा।

उसने सिपाही से पूछा—अभी भोज कहाँ है? मेरी आज्ञा का पालन अभी किया तो नहीं है?

सिपाही—नहीं महाराज, तैयारी है। आपके अन्तिम आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

यह सुन कर मुञ्ज को अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि भोज अभी जीवित है। उसने अपने भाग्य की सराहना की। वह उसी समय रवाना होकर भोज के पास पहुँचा और उसे छाती से चिपटा कर बोला—वत्स भोज! मेरी मति भ्रष्ट हो गई थी। मैं पाप में पड़ गया था। पाप की कालिमा ने हृदय के उज्ज्वल अंशों को आच्छादित कर दिया था। किन्तु तुमने मेरी आँखें खोल दीं। सच है—

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः,
सद्बान्धवाः प्रणतिनम्रगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः,
सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति॥

अर्थात्—मनुष्य विचार करता है—चित्त को हरण करने वाली युवतियाँ मेरे अन्तःपुर में हैं! मेरे सभी आत्मीयजन मेरे अनुकूल हैं—मुझे प्रेम करते हैं और मुझे सुखी देखना चाहते हैं। बन्धु-बान्धव सभी अच्छे हैं। मेरे पास नौकर-चाकर भी हैं और वे बड़े ही नम्र तथा मधुरभाषी हैं। मेरी गजशाला में कितने ही गजराज गर्जना कर रहे हैं। चपल घोड़े हिनहिना कर मानो मेरे वैभव का विजयघोष करते हैं। इस प्रकार संसार की सभी सुखद सामग्री से मैं सम्पन्न हूँ; किन्तु खेद है कि आँख बंद होने पर इनमें से कुछ भी नहीं रहता! मौत की घड़ी आती है तो संसार की एक भी वस्तु अपनी नहीं रह जाती!

पश्चात्ताप की आग में बड़े से बड़ा दोष भी भस्म हो जाता है। मुञ्ज ने सच्चे हृदय से पश्चात्ताप किया। अतएव उसका हृदय स्वच्छ हो गया। भोज के अन्तःकरण में भी कोई मलीनता नहीं थी। आखिर मुञ्ज ने भोज से क्षमा-याचना की। भोज ने

कहा—काकाजी, इसमें आपका कुछ भी दोष नहीं है। जगत् की विभूति एक प्रकार की मदिरा है। यह मनुष्य को मतवाला बना देती है। जब तक मनुष्य इसका स्वामी बन कर रहता है, तब तक तो गनीमत समझिए, किन्तु दास बन जाने पर तो किसी प्रकार कुशल नहीं है। फिर भी आपको सद्बुद्धि शीघ्र ही जागृत हो गई, यह सन्तोष की बात है। अब इस घटना को सर्वथा भूल जाना ही श्रेयस्कर है, जिससे किसी के हृदय में किसी प्रकार का डंक न रह जाय !

आखिर मुंज और भोज राजमहल में आए। उसी दिन से मुंज ने शासन का समस्त भार भोज को सौंप दिया। वह निवृत्त हो गया। भोज न्याय-नीति के साथ प्रजा का पालन करने लगा। परन्तु इस घटना का प्रभाव उसके समस्त जीवन पर पड़ा। वह कभी राज्य के नशे में मतवाला नहीं बना।

भाइयो ! इस घटना पर विचार करो। जिस परिग्रह को प्राप्त करने की कामना मात्र से आत्मा में अतीव कलुषित विचारों का उदय होता है, मनुष्य अपनी मनुष्यता से भी पतित हो जाता है और अपने जीवन के प्रशस्त अंशों को भूल जाता है, वह परिग्रह कल्याणकारी किस प्रकार हो सकता है ? कदापि नहीं परिग्रह तो भयानक नरक-यातनाओं का कारण है। इहलोक को भी सुखमय नहीं बना सकता और परलोक को तो दुःखपूर्ण बनाता ही है। मनुष्य की अन्तरात्मा जिस कार्य से घृणा करती है, ऐसा तुच्छ से तुच्छ कार्य भी परिग्रह करवा लेता है।

परिग्रह का त्याग जब कर दिया जाता है तो आरंभ का स्वतः ही त्याग हो जाता है और आरंभ-परिग्रह का त्याग कर देने पर आत्मा में अपूर्व शान्ति और अनाकुलता उत्पन्न होती है।

हे मोक्षार्थी पुरुषो ! अगर आपको दुःखों का भार दूर करके सच्चा विश्राम प्राप्त करना है तो शील का पालन करो और आरंभ-परिग्रह का त्याग करो। ऐसा करने से आपका कर्मों का भार दूर हो जाएगा। आप अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाएँगे और चिरस्थायी आनन्द के उपभोक्ता बन जाएँगे। सब प्रकार से आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

ब्यावर
२६-७-४१

शील-रत्न
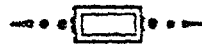
स्तुतिः—

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्ट—
सद्धर्मतत्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व—
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः॥

भगवान ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? हे प्रभो! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ?

हे लोकोत्तम प्रभो! आपने ही इस सृष्टि का सर्वप्रथम कल्याण किया। दुनिया को सन्मार्ग पर लगाकर आपने धर्म का उद्योत किया। आपकी परमकल्याणी और वरदानी वाणी ने भव्य जीवों को स्वर्ग और अपवर्ग की राह दिखलाई। भिन्न-भिन्न उपायों

से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है और किन-किन साधनों से मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इस विषय पर अपूर्व और अद्भुत शैली से उपदेश देकर जनता को सुपथ पर आरूढ़ कर दिया।

महाप्रभो! आपका उपदेश तीन लोक के सभी प्राणियों के हितार्थ होता है। वह उपदेश भाषा और भाव की दृष्टि से अत्यन्त विशद होता है। आपकी भाषा की एक बड़ी भारी विशेषता तो यह है कि सभी श्रोता उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। आपके उपदेश के श्रोता मनुष्य, देव और तिर्यञ्च होते हैं। सभी गहरी उत्कंठा और उत्साह से उपदेश के पीयूष का पान करते हैं। विभिन्न श्रोताओं की भाषा विभिन्न प्रकार की होती है। किन्तु भगवान् की दिव्यध्वनि का अतिशय ऐसा है कि प्रत्येक श्रोता को ऐसा अनुभव होता है, मानों भगवान् हमारी ही भाषा में उपदेश दे रहे हों, इस प्रकार भगवान् सब श्रोताओं के लिए अपनी-अपनी भाषा में परिणत होने वाली ध्वनि के द्वारा कल्याण का पथ प्रदर्शित करते हैं।

ऐसे अतिशय सम्पन्न, सर्वज्ञानी, लोकहितंकर आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार है।

श्रीठाणांगसूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के भाव-विश्रास बतलाए हैं। कल इस सम्बन्ध में किंचित् प्रकाश डाला गया था। आज भी इसी विषय पर कुछ और प्रकाश डालना है। जैसे एक कंधे पर रक्खे हुए वजन को दूसरे कंधे पर रखने से प्राणी को विश्राम का आभास होता है, उसी प्रकार कर्म रूपी वजन से विश्राम पाने के लिए शील को अंगीकार करना श्रेयस्कर है। शील-ब्रह्मचर्य व्रत इस लोक में सुख प्रदान करता है और परलोक के

लिए भी पुण्य की पोटली बाँध देता है। किन्तु ज्ञानी पुरुषों को यह देखकर विस्मय और विषाद होता है कि विषयवासना के जाल में फँसे हुए प्राणी इस व्रत को धारण करने में हिचकते हैं, भयभीत होते हैं। जो सांसारिक भोग-विलास के कीचड़ में फँसे हुए हैं, वे तो इससे विमुक्त होने का प्रयत्न करते नहीं है, वल्कि जो आजाद हैं जो विवाह के वंधन में अभी तक नहीं वँधे हैं, वे वँधने का प्रयास कर रहे हैं।

यह बात आपसे छिपी नहीं है कि विवाह के लिए लोग कितने प्रयत्नशील रहते हैं! एक शादी के लिए न जाने कितनों की खुशामद करते हैं! कोई-कोई तो अखवारों में तक विज्ञापनवाजी करते हैं कि एक प्रतिष्ठित घराने के पढ़े लिखे लड़के के लिए सुयोग्य कन्या की आवश्यकता है! कई लोग दलालों का आश्रय लेते हैं। उन्हें कुछ रुपया खिला कर शादी के लिए किसी को तैयार करते हैं।

नवयुवक और अविवाहित लोग विवाह के लिए उत्कंठित हों तो बात समझ में आ सकती है। मगर कभी-कभी तो बूढ़े लोग भी इस प्रयत्न में अपनी समस्त शक्ति लगाते देखे जाते हैं और सम्पत्ति का भी होम कर देते हैं। किसी समय उनका विवाह हुआ था। दाम्पत्य जीवन का वे अनुभव कर चुके हैं। परन्तु दैवयोग से विधुर हो गए। ऐसी स्थिति में उन्हें समझना चाहिए कि हमें ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए प्रकृति की ओर से सहायता मिली है। पत्नी जीवित होती तो न मालूम ब्रह्मचर्य पालने की भावना जागृत होती अथवा नहीं, किन्तु पत्नी का वियोग हो गया है। विवेकशील पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह इस अवसर से लाभ उठाकर आत्मा की ओर लक्ष्य दे और धर्मध्यान में अपना अवशिष्ट जीवन व्यतीत करे।

किन्तु खेद यह है कि अधिकांश लोगों में इस प्रकार की सद्बुद्धि नहीं होती। कई तो वृद्धावस्था में भी पुनर्विवाह के लिए लालायित रहते हैं। वे किसी गरीब कन्या के पिता को रुपयों का प्रलोभन देकर फँसा लेते हैं और अल्पवयस्क बालिका के साथ विवाह करके उसके जीवन को संकट में डाल देते हैं और अपने जीवन को भी कलंकित और लांछित करते हैं। संसार उनका उपहास करता है. उनसे घृणा करता है, किन्तु वे निर्लज्जतापूर्वक अपने विषय सुख में ही लीन रहते हैं।

ऐसे विषयलोलुप वृद्धों ने समाज के वातावरण को अत्यन्त गंदा बना दिया है। उनके कारण समाज में दुराचार की प्रवृत्ति होती है। अगर वह बाई भाग्यशालिनी और पुण्यशालिनी हुई, तब तो अपने कर्मों का उदय समझ कर सन्तोष धारण कर लेती है, किन्तु यदि उसके अन्तःकरण में प्रतिहिंसा की भावना जाग उठती है तो वह उस वृद्ध से बदला लेने के लिए, उसे नीचा दिखाने के लिए, उसे जलाने के लिए और कदाचित् अपनी अतृप्त वासना को तृप्त करने के लिए ऐसा बर्त्ताव करती है कि उसका जीवन मिट्टी में मिल जाता है और वह बुड्ढा भी लोगों में मुँह दिखलाने योग्य नहीं रहता! अनेकों ऐसे उदाहरण देखने-सुनने में आए हैं।

हे वृद्ध, तेरे जीवन का मध्याह्न बीत चुका है। तेरी जिंदगी संध्या की वेला में आ उपस्थित हुई है। संध्या अधिक समय तक नहीं टिकती। अतएव तेरे जीवन की संध्या भी शीघ्र ही अंधकारमयी रजनी के रूप में परिणत होने को है। प्रकृति ने तेरा एक बंधन तोड़ दिया है। तू इसे अपना अहोभाग्य समझ। पत्नी के वियोग को अपने लिए चेतावनी समझ। सावचेत हो जा। विषय वासना के विषैले अंकुरों को अन्तःकरण की भूमिका से उखाड़ कर फैंक दो।

शान्त और स्वस्थ होकर धर्मध्यान कर। शीलव्रत का पालन कर! इसी में तेरा सच्चा कल्याण है।

कई विषयलोलुप एक पत्नी की विद्यमानता में भी दूसरा विवाह करने के लिए तत्पर रहते हैं और कर भी डालते हैं। समाज का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार के विवाहों पर वह कठोर प्रतिबन्ध लगावे। पति के मर जाने पर भी समाज स्त्री को दूसरा विवाह करने की अनुमति नहीं देता, वही समाज एक पत्नी की मौजूदगी में पुरुष को दूसरा विवाह करने की अनुमति दे, तो यह घोर अन्याय और पक्षपात है। इस युग में यह पक्षपात नहीं चल सकता। धार्मिक दृष्टि से यह अनुचित है और सामाजिक दृष्टि से भी अनुचित है। विवाहित होकर भी जो अपनी वासना को सीमित और नियंत्रित नहीं कर सकता, उसका विवाह करना सफल नहीं कहा जा सकता। विवाह की सार्थकता तो विषयवासना को शनैः शनैः जीतने में है उसकी वृद्धि करने में नहीं है। विवाह की सार्थकता शीलव्रत के अधिकाधिक पालन में है, भोगों का क्रीड़ा बनने में नहीं है।

कई मनुष्य तो यहाँ तक गिर जाते हैं कि वे व्यभिचार का सेवन करते भी लज्जित नहीं होते! ऐसे लोगों को किन शब्दों में भर्त्सना की जाय? किन शब्दों में उनकी नीचता का दिग्दर्शन कराया जाय? वे अपनी और अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा को नष्ट करते हैं। वे विश्वासघाती हैं, पापी हैं और अपने वर्त्तमान तथा भविष्य जीवन को मिट्टी में मिलाते हैं। कहा भी है—

अज्ञानतिमिरग्रस्ता, विषयामिषलम्पटाः।
भ्रमन्ति शतशो जीवा, नाना योनिषु दुःखिताः॥

परस्त्रीगामी जन अज्ञान रूपी अंधकार में ग्रस्त हैं, विषय-भोग रूपी मांस के लोलुप हैं। वे दुखी होकर नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं।

परस्त्रीव्यसनान्नूनं, धनहानिं कुलक्षयम् ।
देहनाशादिकं दुःखं,प्राप्तोऽत्रासौ दशाननः ॥

अर्थात्—जिस पुरुष को परस्त्रीगमन की खोटी आदत पड़ गई है, वह निश्चय ही अनेक विपत्तियों का पात्र बनता है। उसके धन का विनाश होता है, कुल का क्षय होता है और शरीर का भी सत्यानाश हो जाता है। देखो रावण कितना शक्तिशाली और तेजस्वी वीर पुरुष था। परस्त्री की स्वीकृति के बिना उसका सेवन न करने की उसकी प्रतिज्ञा थी। फिर भी परस्त्री का अपहरण करने मात्र से उसे कितनी हानि उठानी पड़ी? उसे राज्य से हाथ धोने पड़े, प्राणों का परित्याग करना पड़ा, कुल का क्षय हो गया! जब रावण जैसे शक्तिशाली पुरुष की भी यह दुर्दशा हो सकती है तो साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या है!

अभिप्राय यह है कि शील परमशान्तिदाता है, अपूर्व संतोष और सुख का आकर है, फिर भी वासना के वशीभूत होकर मनुष्य शील का परित्याग करके भाँति भाँति के कष्ट उठाते हैं।

कुशील सेवन करने की अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए लोग कई तरह के इत्र, सेंट, फुलेल आदि खुशबूदार वस्तुओं का सेवन करते हैं और उनके लिए पैसा खर्च करते हैं तरह-तरह के शृंगार करने पड़ते हैं। यह सब कार्य केवल स्त्री के प्रति आसक्ति होने के कारण ही किये जाते हैं। जिन्होंने स्त्री सेवन का त्याग कर दिया है,

उन्हें किसी भी प्रकार की खटपट नहीं करनी पड़ती। वे भव्य आनन्द का अनुभव करते हैं। ब्रह्मचारी पुरुष सदैव शान्ति और स्वस्थता का अनुभव करता है और इसके विपरीत अब्रह्मचर्य से मनुष्य को महान संकटों का सामना करना पड़ता है और दिन-रात चिन्ता ही चिन्ता में व्यस्त रहना पड़ता है। उन्हें अपनी ही करतूतों की चिन्ता लगी रहती है। वे दिन-रात यही सोचा करते हैं कि कहीं मेरे कुत्सित कार्यों का पर्दा न खुल जाय ! कहीं मेरा भंडाफोड़ न हो जाय ! इस प्रकार की चिन्ता उनके चित्त में काँटे की तरह सालती ही रहती है।

व्यभिचारी पुरुषों को कभी-कभी तो अपनी इज्जत बचाने के लिए भ्रूणहत्या भी करनी पड़ती है। व्यभिचारी मनुष्यों को यहाँ तो बेकद्री होती है, उन्हें घृणा, तिरस्कार और अपमान का सामना करना ही पड़ता है, किन्तु दूसरे जन्म में भी नरक के यमराज छाती पर सवार होकर उनकी करतूतों का पूरा-पूरा फल चखाते हैं ! इस प्रकार कामसेवनजनित क्षणिक सुख के लिए लोग अनन्त दुःखों को भूल जाते हैं और अपने भविष्य को अतीव दुःखमय बना लेते हैं !

हे मनुष्य ! तू समझदार प्राणी कहलाता है। तुझे अपने हित अहित का विचार करना चाहिए। अपनी विशिष्ट बुद्धि का सदुपयोग करना चाहिए और जिसमें आत्मा का कल्याण हो, वही कार्य करना चाहिए। हे भाई, तू विषय-वासना की भयानक लपटों में झुलसने के लिए नहीं है, यह जीवन तुझे ऐसे प्रयत्न करने के लिए मिला है जिनसे तेरे भव-भव के संताप दूर हो जाएँ और तुझे अप्राप्तपूर्व शान्ति की प्राप्ति हो।

भाइयो ! ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि यह भोग-विलास घोर दुःखों का जनक है। यह भयानक रोग है। शीघ्र ही इस रोग का इलाज करना चाहिए। इसका अचूक इलाज शीलव्रत को धारण करना है। शीलव्रती मनुष्य को परम सुख की प्राप्ति होती है। वह अपूर्व संतोष और असाधारण अनाकुलता का पात्र बनता है। शीलव्रत संसारी जीव को दुःखों से विश्राम दिलाने वाला है। इस संसार में शील के समान शान्ति और विश्रान्ति देने की शक्ति किसी में भी नहीं है। इस लोक में भी और परलोक में भी शील से अनन्त शान्ति प्राप्त होती है।

जम्बूकुमार के सौभाग्य का सूर्य जब मध्याह्न में आया और अपने प्रखर तेज के साथ चमका तो उन्हें सुधर्मा स्वामी का मङ्गलमय उपदेश सुनकर वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने की हार्दिक अभिरुचि व्यक्त की। सुधर्मा स्वामी तो निस्पृह सन्त थे। उन्होंने कहा–'जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।' अर्थात् हे देवों के प्यारे ! जिससे सुख उपजे वही करो। उसे करने में देर न करो।

जम्बूकुमार सुधर्मा स्वामी को वन्दना करके माता–पिता से दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्राप्त करने के लिए घर की ओर रवाना हुए। जब वे नगर के दरवाजे से दो–चार कदम की दूरी पर थे कि दरवाजा अकस्मात् गिर पड़ा। इस आकस्मिक घटना का कुमार के चित्त पर गंभीर प्रभाव पड़ा। अन्तःकरण में वैराग्य की लहरें उमड़ ही रही थीं इस घटना ने उनमें और अधिक उत्तेजना उत्पन्न कर दी। वह सोचने लगे–अगर मैं दो–चार कदम आगे होता तो आज जीवित न रहा होता ! उन्हें यह भी खयाल आ गया कि यह जीवन क्षणभंगुर है। पल भर भी इसके टिकने का भरोसा नहीं

है। अभी-अभी है और आगामी क्षण में नहीं भी रह सकता है। और जब क्षण का भी ठिकाना नहीं तो रात भर का क्या भरोसा है? मैं रात्रि भर घर ठहर कर सुधर्मा स्वामी के पास जाना चाहता हूँ, परन्तु कौन कह सकता है कि कल तक मैं जीवित रह ही जाऊँगा?

इस प्रकार विचार करके जम्बूकुमार उलटे पाँव महान् श्रमण सुधर्मा स्वामी की सेवा में लौटे। हाथ जोड़ कर कहने लगे-गुरुदेव! इस जीवन का कुछ भरोसा नहीं है। अतएव जब तक मैं पूर्ण संयम को धारण नहीं कर लेता, जब तक भी अव्रती नहीं रहना चाहता। अनुग्रह करके मुझे शीलव्रत धारण करा दीजिए। सुधर्मा स्वामी ने जम्बूकुमार की विरक्ति भावना की भूरि-भूरि प्रशंसा की और शील-व्रत धारण करा दिया।

तत्पश्चात् वे घर आये और माता-पिता के समीप पहुंचे। माता-पिता ने उन्हें भरसक समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु वे अपने अटल संकल्प से विमुख न हुए। उनकी सद्यःपरिणीता वधुओं ने भी सारी शक्ति लगाकर जम्बूकुमार को भोगों की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया, मगर उन्होंने उन्हें भी वैराग्य के रंग में रंग दिया और वे सब भी उन्हीं के साथ दीक्षा लेने को तैयार हो गईं! उनकी सुहागरात्रि वैराग्यरात्रि के रूप में परिणत हो गई।

भीष्म पितामह की कलित कीर्त्ति आज भी विश्व में विश्रुत है। उन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन किया। ब्रह्मचर्य की शक्ति से उन्होंने मृत्यु को भी अपने कब्जे में कर लिया था।

इसी प्रकार ब्रह्मचारी पवनसुत अर्थात् हनुमानजी हुए हैं, जो समुद्र को भी लांघ कर लंका तक जा पहुँचे थे!

भारतीय साहित्य में ब्रह्मचर्य-पालन के एक से एक उत्तम आदर्श विद्यमान हैं, जो हमें अपूर्व प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं और जिनसे ब्रह्मचर्य की महान् शक्ति का आभास मिलता है। वास्तव में ब्रह्मचर्य की शक्ति के सामने जगत् की कोई भी शक्ति नहीं ठहर सकती। ब्रह्मचर्य में अजेय और अचिन्त्य शक्ति है। कहा भी है:—

नीरोगः कान्तिसम्पन्नः, सर्वदुःखविवर्जितः।
ब्रह्मचारी भवेल्लोके, पाप्मना च विवर्जितः॥

अर्थात्—ब्रह्मचारी पुरुष कभी रोगग्रस्त नहीं होता। रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण दुर्बलता है और ब्रह्मचारी दुर्बल नहीं, प्रबल होता है। ब्रह्मचारी के मुखमण्डल पर अपूर्व कान्ति जगमगाती रहती है। वह सब प्रकार के दुःखों से रहित होता है। ब्रह्मचर्य के प्रताप से समस्त दुःख दूर ही रहते हैं। ब्रह्मचारी को पाप की कालिमा कदापि स्पर्श नहीं कर सकती।

मन वचन और काय से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला पुरुष मनुष्यों की तो क्या बात, देवों द्वारा भी पूज्य बन जाता है। ब्रह्मचर्य के पालन से मस्तिष्क शान्त और बुद्धि प्रसन्न और तीक्ष्ण होती है। ब्रह्मचारी के अन्तःकरण में उत्कृष्ट विचारों की धारा प्रवाहित होती रहती है, जिसके कारण उसका समग्र जीवन शुचिता से परिपूर्ण हो जाता है। ब्रह्मचारी कठिन से कठिन प्रश्नों का अनायास ही सुन्दर और अकाट्य उत्तर दे सकता है। मतलब यह है कि ब्रह्मचारी के लिए कोई भी समस्या ऐसी नहीं जो हल न की जा सके।

ब्रह्मचर्य का अर्थ बहुत व्यापक है। समस्त इन्द्रियों के विषयों का परित्याग करके ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप से रमण

करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। यह पूर्ण ब्रह्मचर्य का स्वरूप है। किंतु साधारणतया ब्रह्मचर्य शब्द मैथुन सेवन का परित्याग करने के अर्थ में रूढ़-सा हो गया है। वह ब्रह्मचर्य भी दो प्रकार का है—सर्वदेश ब्रह्मचर्य और एकदेश ब्रह्मचर्य। सर्वदेश ब्रह्मचर्य में मैथुन मात्र का परित्याग किया जाता और एकदेश ब्रह्मचर्य में परस्त्री सेवन का त्याग किया जाता है। जो गृहस्थ पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें भी कम से कम परस्त्री गमन का त्याग करना ही चाहिए। कहा है—

यः स्वदारे हि सन्तुष्टः, परदारपराङ्मुखः।
स गृही ब्रह्मचारित्वाद्, यतिकल्पः प्रकल्प्यते ॥

अर्थात्—जो गृहस्थ अपनी विवाहिता पत्नी में ही सन्तोष धारण करता है और परस्त्री के प्रति माता-बहिन की भावना रखता है, वह जितने अंशों में त्यागी है, उतने अंशों में ब्रह्मचारी होने के कारण साधु के समान माना गया है।

इस प्रकार क्या गृहस्थ और क्या साधु, सभी के लिए ब्रह्मचर्य का विधान है। प्रत्येक मनुष्य, फिर चाहे वह नरजाति का हो या नारी जाति का, ब्रह्मचर्य की साधना करके अपनी आत्मा का परम कल्याण कर सकता है।

उदयपुर के महाराणा फतहसिंहजी कई वर्षों तक ब्रह्मचारी रहे। बाद में भी उन्होंने सिर्फ एक ही पत्नी बनाई। अपनी चित्त-वृत्ति पर उन्होंने काफी अंकुश रक्खा। इसका प्रभाव उनके जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देता था। वृद्धावस्था में भी उनमें नवयुवकों की सी स्फूर्ति विद्यमान थी। उनकी बुद्धि भी बड़ी तीक्ष्ण और स्पष्ट थी। उनके बुद्धिवैभव का एक उदाहरण लीजिए:—

विक्रमीय संवत् १९८३ में हमने उदयपुर में चातुर्मास किया। उस वर्ष वहाँ पानी की बहुत वर्षा हुई। ऐसा लगता था कि मानों आसमान फट पड़ा है और अब जल-थल एकमेक होने वाले हैं। वर्षा के जल से सब तालाब लबालब भर गए। माण्डल का तालाब टूट गया और उसके टूटने से रेलवे लाइन को बहुत क्षति पहुँची।

रेलवे के सरकारी पदाधिकारियों ने महाराणा से क्षतिपूर्त्ति की माँग की। मेवाड़ के राज्याधिकारी लिखापढ़ी करते रहे, किन्तु परिणाम कुछ नहीं निकला। ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेवाड़ सरकार को क्षतिपूर्त्ति करनी ही पड़ेगी।

अन्त में महाराणा साहब के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ। उन्होंने प्रश्न पर विचार किया और रेलवे के उच्च अधिकारियों से प्रश्न किया—आपको मालूम है कि तालाब पहले बना अथवा रेलवे लाइन पहले बनी ?

पदाधिकारी बोले—तालाब पहले का है और रेलवे लाइन बाद में बनी है।

महाराणा बोले—जब तालाब पहले बना हुआ था तो ऐसी जगह में रेल्वेलाइन क्यों डाली गई जहाँ तालाब के टूटने पर उसे क्षति पहुँचने की संभावना थी ? रेल्वे-इंजीनियरों को समझना चाहिए था कि कभी न कभी तालाब टूट सकता है और लाइन को हानि पहुँच सकती है। जब आपके इंजीनियरों की अदूरदर्शिता के कारण रेल्वे-लाइन को हानि पहुँची है, तो मेवाड़-सरकार से हर्जाना कैसे माँगा जा सकता है ?

कोई भी इस तर्क का खण्डन न कर सका। महाराणा ने हर्जाना देना एकदम अस्वीकार कर दिया और रेल्वे-अधिकारियों को मौन साधना पड़ा। यह सब ब्रह्मचर्य का ही तो प्रताप है। वास्तव में ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है। कहा है:—

तारीफ फैले मुल्क में एक शील के परताप से,
सुरेन्द्र नमे कर जोड़ के, एक शील के परताप से। टेर॥
शुद्ध गंगाजल जैसा, चिन्तामणि सा रत्न है।
लो स्वर्ग मुक्ति भी मिले, एक शील के परताप से॥
आग का पानी बने, हो सिंह मृग समान जी।
दुश्मन भी किंकर बने, एक शील के परताप से॥
चन्दनबाला कलावती, द्रौपदी सीता सती।
सुखी हुई मैना सती, एक शील के परताप से॥
गुरु के प्रसाद से, करे चौथमल ऐसा कथन।
सुर-सम्पत्ति उसको मिले, एक शील के परताप से॥

भाइयो! शील में ऐसा महान् प्रभाव है कि जो पुरुष अपने जीवन में शील की प्रतिष्ठा करता है, सच्चे अन्तःकरण से शील का आचरण करता है, उसकी देश-देश में कीर्त्ति फैल जाती है। देश और काल की कोई भी सीमा उसकी कीर्त्ति को अवरुद्ध नहीं कर सकती। शीलवान् के चरणों में देवेन्द्र भी किंकर के समान हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं। शील गंगाजल के समान निर्मल है और चिन्तामणि रत्न के सदृश समस्त मनोरथों की पूर्त्ति करने वाला है। शील के प्रताप से स्वर्ग और मोक्ष की भी प्राप्ति होती

है। शील के अद्‌भुत प्रताप से अग्नि भी पानी बन जाती है, सिंह भी हिरण के समान आचरण करने लगता है, और शत्रु भी दास बन जाता है। चन्दनबाला, कलावती आदि सतियाँ शील के प्रभाव से ही घोर से घोर संकटों पर विजय प्राप्त करके सुखी बनीं। शील ही दैवी सम्पत्ति प्रदान करने वाला है।

भाइयो! शील की महिमा ऐसी अचिन्त्य है कि साधारण मनुष्य उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। शील ही वह महान् प्रभावशाली वस्तु है, जो साँप को भी रस्सी बना देता है और ज़हर के असर को भी शान्त कर देता है। शत्रु को मित्र बना देता है। पागल हाथी को भी पालतू कुत्ते के समान कर देता है। दुश्मन को दोस्त बना देता है। कहाँ तक कहा जाय, शील के अनुपम प्रभाव से हजारों विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

राजा नल अपनी रानी दमयन्ती को जंगल में अकेली छोड़ कर चला गया। वह बेचारी परेशान होकर इधर-उधर भटक रही थी। उस भयानक अटवी में उसे एक राक्षसी मिली, जो रानी को भक्षण कर जाना चाहती थी। रानी ने साहस का अवलम्बन करके कहा—अगर मैं सच्ची शीलवती होऊँगी तो तू क्या, कोई भी मेरा बाल तक बांका नहीं कर सकता। इतना सुनते ही वह राक्षसी गायब हो गई और रानी अपने पति की खोज में निकल पड़ी। आखिर शील के प्रभाव से रानी के सब संकट कट गये और वह सुखी हुई।

आजीवन शील का पालन किया जाय तब तो कहना ही क्या है! जो ऐसा नहीं कर सकता उसे कम से कम द्वितीया, पंचमी अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को तो अवश्य ही शीलव्रत धारण करना चाहिए और परस्त्रीगमन का तो

सदैव के लिए त्याग करना ही चाहिए। इस प्रकार शीलव्रत धारण करने से प्राणी को विश्राम मिलेगा, शान्ति प्राप्त होगी।

शीलव्रत धारण करना शरीर के राजा वीर्य की रक्षा करना है। वीर्य की रक्षा करने से आयु, वल, तेज और ओज आदि की वृद्धि होती है और जीवन अत्यन्त स्पृहणीय वन जाता है। अतएव अमूल्य वीर्यरत्न की कद्र करना सीखो इसे व्यर्थ मत लुटाओ। पानी समझ कर मत वहाओ। यह जीवन का स्रोत है, प्राणों का प्राण है। वीर्य की रक्षा करके ही कोई पुरुष महापुरुष वन सकता है। वीर्य रक्षा करने वाले ही दीर्घजीवी और नीरोग होते हैं। कहा भी है:—

मरणं विन्दुपातेन, जीवनं विन्दुधारणात्।
तस्माद्यतिः प्रयत्नेन, कुरुते विन्दुधारणम्॥

वीर्य के एक विन्दु का गिरना मृत्यु है और विन्दु का धारण करना ही जीवन है। इस कारण संयमी पुरुष वड़े प्रयत्न से विन्दु को धारण करते हैं।

सचमुच ब्रह्मचर्य का पालन करने से अनेक भयंकर वीमारियाँ—जैसे क्षय तपैदिक, आदि भी दूर हो जाती है और कामासक्ति की अधिकता से अनेक प्राणहारी रोगों का उद्भव होता है। सुजाक, गर्मी और प्रमेह आदि गंदी, लज्जाजनक जान लेने वाली और जिंदगी को भारभूत एवं दुःखमय वनाने वाली वीमारियाँ वीर्य के अनुचित विनाश से ही उत्पन्न होती हैं। कामी लोग पहले तो आँखें मूँद कर विषयभोग के कीचड़ में पड़ जाते हैं, किन्तु जव उसका नतीजा सामने आता है, तव रोते हैं, पछताते हैं और

अपनी मूर्खता के लिए अपने आपको भर पेट कोसते हैं मगर उनके विषय में वही कहावत चरितार्थ होती है कि—'अब पछताये होत क्या, चिड़ियाँ चुग गईं खेत।' पीछे पछताने से क्या होता है! एक बार शरीर को विषाक्त और खोखला बना लेने के बाद फिर पश्चात्ताप करने से भी लाभ नहीं होता। होशियारी तो इसी में है कि मनुष्य पहले से ही सोच-समझ कर चले। पश्चात्ताप करने का अवसर न आने दे और ज्ञानी पुरुषों के उपदेश को समझ कर ही प्रवृत्ति करें।

शीलव्रत से मनुष्य की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है। उसका समग्र जीवन तेजोमय बन जाता है और उसके चेहरे पर अद्भुत दीप्ति विराजमान हो जाती है।

जो मनुष्य अपने शील पर अटल रहता है, देवता उसकी सेवा और सहायता करते हैं और उसके ऊपर आये हुए समस्त उपसर्गों, संकटों और विघ्नों का निवारण कर देते हैं।

एक बार एक महिला स्टेशन पर उतरी और तांगा किराये पर करके अपने घर को रवाना हुई। रास्ते में तांगे वाले के मन में पाप आ गया। उसने सोचा—इस स्त्री को जंगल में ले जाऊँ, इसका सारा जेवर छीन लूँ और इसे मार कर कुए में डाल दूं तो क्या ही अच्छा होगा! तांगा हांक कर वर्षों में भी उतनी कमाई नहीं कर सकूँगा, जितनी कमाई इस स्त्री को मार डालने से हो जाएगी।

इस प्रकार सोच कर तांगे वाला उस महिला को उसके घर की ओर ले जाने के बदले जंगल की ओर ले गया। जंगल में ले

जाकर उस दुष्ट ने महिला का सारा जेवर छीन लिया और उठा कर उसे कुए में फैंकने को तैयार हो गया !

स्त्री ने सोचा—अब प्राणों का अन्त सन्निकट है। अगर किसी युक्ति से प्राण बच जाएँ तब तो ठीक, अन्यथा मरना ही पड़ेगा। यह सोचकर उसने तांगे वाले से कहा—क्या ही अच्छा होगा, यदि तुम पत्थर बाँधकर मुझे कुए में डालोगे। ऐसा करने से मैं पानी के ऊपर नहीं आ सकूँगी—पैंदे में ही पड़ी-पड़ी सड़ जाऊँगी और किसी को पता नहीं लगेगा कि आखिर क्या हुआ ! तुम्हारी कलई नहीं खुल सकेगी। चाहो तो ऐसा कर सकते हो।

तांगे वाले को उस स्त्री की बात जँच गई। वह भारी-सा पत्थर तलाश करने चला गया। इस अवसर में उसने पंचपरमेष्टी का ध्यान किया और मन में संकल्प किया—'यदि मैं शीलवती होऊँ तो देवता मेरी सहायता करें।'

इस प्रकार संकल्प करते ही स्त्री ने देखा कि पत्थर उठाते समय भी उस दुष्ट के पैरों से एक काला नाग लिपट गया है और कोई कह रहा है-हे बाई ! तू जेवर लेकर तांगे में बैठ जा और अपने घर की ओर प्रस्थान कर दे।'

स्त्री ने अदृश्य पुरुष के आदेश का अनुसरण किया। वह सकुशल अपने घर आ पहुँची। जब वह अपने घर पहुँच चुकी तब उस तांगे वाले के पैरों को सर्प ने छोड़ा। सर्प देखते-देखते गायब हो गया। इस घटना से वह सोचने लगा—अहा, वह नारी सती थी। देव ने आकर उसकी रक्षा की !

भाइयो ! शील के प्रभाव से ऐसी-ऐसी सैकड़ों घटनाएँ हुआ करती हैं। शील के माहात्म्य से उस बाई के प्राणों की और सम्पत्ति

की रक्षा हुई। अगर वह भ्रष्टाचरण वाली होती तो कौन उसको रक्षा करता? कोई भी उसका सहायक न होता।

आशय यह है कि शील की रक्षा करने से इस लोक में भी सुख की प्राप्ति होती है और परलोक में भी। जो शील की रक्षा करता है, शील भी उसकी रक्षा करता है। अतएव प्राणप्रण से शील की रक्षा करो और इसी को अपना बड़े से बड़ा कर्त्तव्य समझो।

महापुरुषों ने शील का पालन करके अपनी समग्र शक्तियों को पूर्ण रूप में जागृत किया है। आप भी उसी पथ पर चलकर वही महत्ता प्राप्त कर सकते हैं।

ब्यावर
२७-७-४१

अहिंसाणुव्रत

स्तुतिः—

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रयद्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या ।
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जांय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

तीर्थंकर भगवान् जब सुरविनिर्मित समवसरण में विराजमान होते हैं तो उनके मस्तक के पृष्ठभाग में एक दिव्य प्रकाश वाला भामण्डल होता है। उसका प्रकाश इतना प्रखर होता है कि यदि सौ सूर्य एकत्रित होकर एक साथ प्रकाश करें तो भी उस भामण्डल

के प्रकाश की समानता नहीं कर सकते। भामण्डल के प्रकाश से दूर-दूर तक जगमगाहट हो जाती है। उसका प्रकाश इतना प्रखर होने पर भी सूर्य के प्रकाश की तरह उत्तप्त नहीं होता, वरन् चंद्रमा के प्रकाश के समान शीतल और अतीव सौम्य होता है।

आचार्य महाराज ने भगवान् आदिनाथ के इसी अतिशय का इस पद्य में वर्णन किया है। वह कहते हैं कि—हे विभो ! आपके चमकते हुए भामण्डल की विपुल विभा तीन लोक के समस्त पदार्थों की प्रभा को तिरस्कृत करती है और अपनी अनुपम आभा से दिन में सूर्यों की प्रभा को तथा रात्रि में चन्द्रप्रकाश से सुशोभित रात्रि को भी जीत लेती है।

अनेकानेक पूर्वभवों में भगवान् ने पुण्य का उपार्जन किया और उसके परिणामस्वरूप तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। उसी के महात्म्य से यह अनुपम भामण्डल निर्मित हुआ है।

भाइयो ! कैसा अपूर्व वायुमंडल रहा होगा उस समय ! एक ओर भगवान् की परमकल्याणकारिणी, पातकनिवारिणी, भव-तारिणी, मोह-अज्ञान संहारिणी दिव्य वाणी भव्य जनों के भाव तिमिर को दूर कर रही थी और दूसरी ओर प्रभु का भामण्डल बाह्य अन्धकार के प्रसार का निवारण कर रहा था। कैसी अपूर्व छटा थी ! कैसा आनन्दप्रद वह अवसर था ! सर्वत्र आलोक, आलोक और आलोक ही दृष्टिपथ हो रहा था ! जिस पुण्यशाली ने प्रभु की दिव्यध्वनि को श्रवण किया, उसके अन्तस्तल का घोर अंधकार सदा के लिए दूर हो गया। जिसने प्रभु के दर्शन किये, वह भी कृतकृत्य हो गया ! सच है—अरिहन्त देव की महिमा अपरम्पार है। तीर्थंकर देव के समान कोई पुण्यशाली पुरुष इस भूतल पर अवतरित नहीं हो सका।

पुण्य के प्रभाव से तीर्थंकर भगवान् मूलतः एक मुख वाले होने पर भी चतुर्भुज दिखलाई देते हैं। दर्शकों को ऐसी प्रतीति होती है, मानों भगवान् के चारों दिशाओं में चार मुख हैं। तीनों लोकों के प्राणी भगवान् के समवसरण में उपस्थित होते हैं और चारों दिशाओं में स्थित होकर प्रभु के मुखारविन्द से उपदेश श्रवण करते हैं। उन सभी को ऐसा जान पड़ता है कि तीर्थंकर देव का मुख हमारी ही ओर है!

भगवान् का उपदेश प्राणी मात्र के कल्याण के लिए होता है। भगवान् संसार को जन्म, जरा, मरण आदि के दुःखों से बच कर शाश्वत शान्ति, अखण्ड सुख और परम कल्याण का मार्ग बतलाते हैं। भगवान् की भाषा की सब से बड़ी विशेषता यह होती है कि प्रत्येक श्रोता उसे अपनी ही भाषा समझता है और उसके भाव को हृदयंगम करने में तनिक भी कठिनाई का अनुभव नहीं करता।

भाइयो! यह संसारी जीव अनादि काल से चौरासी लाख जीवयोनियों में भटक रहा है। अनेक प्रकार के कष्ट पा रहा है। जन्म लेता है, मरता है, फिर जन्म लेता है और फिर मरता है। यह जन्म-मरण का प्रवाह निरन्तर चल रहा है। जन्म के समय मृत्यु के समय और जन्म-मरण के अन्तराल काल में भी जीव विविध प्रकार की वेदनाएँ और व्यथाएँ भोगता है। जब तक जीव कर्मों के अधीन हो रहा है और आत्मा के समस्त विकारों को समूल विनष्ट नहीं कर देता, तब तक उसे शान्ति और विश्रान्ति नहीं मिल सकती। भगवान् आदिनाथ ने उसे विश्रान्ति पाने का मार्ग बतलाया है। विश्राम पाने के लिए बतलाया हुआ मार्ग भी विश्राम कहलाता है। यह विश्राम, जिन्हें भाव विश्राम कहते हैं,

चार हैं। कल प्रथम विश्राम के संबंध में किंचित विवेचन किया गया था। यह विषय बहुत व्यापक है। इसको लेकर जितनी विवेचना की जाय, थोड़ी है। विस्तार से कहने के लिए पर्याप्त समय नहीं है, अतएव संक्षेप में ही चार विश्रामों का निरूपण किया जाएगा।

कर्मों और कर्मजनित विकारों के भार को हल्का करने और हटाने के लिए श्रीस्थानांगसूत्र में कथित चार विश्रामों में से प्रथम विश्राम है—श्रावक के बारह व्रतों को अंगीकार करना।

बारह व्रतों में अहिंसा व्रत को आद्य और प्रमुख स्थान प्राप्त है। इसका कारण यह है कि अहिंसा व्रत के आधार पर ही शेष व्रतों की स्थिति रह सकती है। अहिंसा के बिना कोई भी व्रत नहीं ठहर सकता। गहराई से विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि सत्य और अस्तेय आदि अन्य सभी व्रत अहिंसा की ही शाखाएँ हैं; अहिंसा की पुष्टि के लिए हैं, अतएव अहिंसा के ही नाना रूप हैं। अतएव सभी व्रतों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है।

संसार के समस्त धर्मों ने अहिंसा को आदर दिया है। कोई भी धर्म अहिंसा को पाप और हिंसा को धर्म नहीं मानता। अतः यह कहने में कोई अड़चन नहीं रहती कि 'अहिंसा परमो धर्मः'। इस विषय में सभी धर्मशास्त्र एकमत हैं।

अहिंसा आत्मकल्याण का सर्वोत्तम साधन है। अन्तःकरण में जब अहिंसा की वृत्ति बलवती बनती है, तब दया, करुणा और अनुकम्पा की उत्ताल तरंगें उठने लगती हैं, तब समभाव की जागृति होती है। वैर-विरोध आदि की दुष्ट भावनाएँ दूर हो जाती हैं और तभी आत्मा में निर्मलता उत्पन्न होती है।

लौकिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी अहिंसा की महान् उपयोगिता अनुभव की जा सकती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि जगत् की व्यवस्था अहिंसा के आधार पर ही टिकी है। संसार अहिंसा के बल पर ही जीवित है। माता के हृदय में जो दया और अनुकम्पा है, वही तो बालक के प्राणों की रक्षा करती है। अगर माता के मन में दया का लेश भी न होता तो बालक क्या जिंदा रह कर बड़ा हो जाता? कदापि नहीं। प्रथम तो वह गर्भ में ही नष्ट हो जाता और कदाचित् बच जाता तो गर्भ से बाहर आते ही परलोक का अतिथि बन जाता।

अहिंसा का ही प्रताप है कि प्रत्येक सबल निर्बल को नष्ट नहीं करता है, बल्कि एक दूसरे के जीवन में सहायक होते हैं। थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि प्रत्येक मनुष्य के चित्त में से अहिंसा, दया, सहानुभूति और संवेदना का भाव नष्ट हो गया है और इस कारण समस्त मनुष्य एक दूसरे के रुधिर के पिपासु बन गये हैं। क्या ऐसी स्थिति में संसार टिक सकता है? प्रत्येक मनुष्य अगर दूसरे की जान लेने को ही तैयार हो जाय तो दुनिया कितने दिनों तक कायम रह सकेगी?

इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि हमारे जीवन में अहिंसा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अहिंसा ही हमारा पालन पोषण और रक्षण करती है। सत्य यह है कि अहिंसा जीवन है और हिंसा मौत है। यही कारण है कि धर्म में अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। वास्तव में अहिंसा के महत्त्व को देखते हुए उसे यह प्रधान स्थान मिलना ही चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि आप अहिंसा को इतना महत्त्व दे रहे हैं सो ठीक है, परन्तु अहिंसा का आचरण करना तो शक्य नहीं

है। आखिर जीवन निर्वाह के लिए नाना प्रकार के धंधे करने पड़ते हैं। कोई कृषि करता है, कोई व्यापार करता है, कोई और कुछ करता है। इन सब कार्यों में प्राणियों की हिंसा अनिवार्य है। यही नहीं, हमारे चलने-फिरने में, भोजन बनाने-खाने में, पानी पीने में, यहाँ तक कि श्वास लेने में भी हिंसा अनिवार्य है। हिंसा से सर्वथा बचकर कोई जीवित नहीं रह सकता। तब अहिंसा का आचरण कैसे किया जा सकता है ?

इस प्रकार का प्रश्न बहुतों के मनमें उत्पन्न होता है। किन्तु इसके मूल में हिंसा और अहिंसा के स्वरूप की अनभिज्ञता ही है। हिंसा क्या है ? और अहिंसा का स्वरूप क्या है ? इस तथ्य को यदि सम्यक् प्रकार से समझ लिया जाय तो यह प्रश्न उपस्थित नहीं होगा और अहिंसा का आचरण करना असंभव है, यह भ्रमपूर्ण धारणा भी दूर हो जाएगी। अतएव यहाँ संक्षेप में हिंसा-अहिंसा के स्वरूप का दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा। तत्त्वार्थसूत्र में श्री उमास्वाति वाचक ने हिंसा का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'

अर्थात्—प्रमाद युक्त योगों के वशीभूत होकर प्राणों का नाश करना हिंसा है। अन्यत्र भी कहा है—

प्राणी प्रमादतः कुर्यात्, यत्प्राणव्यपरोपणम्।
सा हिंसा जगदे प्राज्ञैर्बीजं संसारभूरुहः॥

अर्थात्—प्राणी प्रमाद के वश होकर प्राणों का विनाश करता है, इसी को तीर्थंकर, गणधर आदि ज्ञानी पुरुष हिंसा कहते हैं और यह हिंसा जन्म-मरण रूप संसार का बीज है।

प्राण दश हैं—पाँच इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत) तीन बल (मनोबल, कायबल, वचनबल) श्वासोछ्वास और आयु। इन दस प्राणों का प्रमाद से विनाश करना हिंसा है।

हिंसा के स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होगा कि इसमें दो बातों का समावेश किया गया है। प्रमाद का योग और प्राण-व्यपरोपण। प्रमादयोग भावहिंसा है और प्राणव्यपरोपण द्रव्य-हिंसा है। किन्तु यह दोनों परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। द्रव्यहिंसा एकान्ततः हिंसा नहीं है, परन्तु भावहिंसा हिंसा ही है। मान लीजिए कोई संयमी अप्रमत्त भाव से यतनापूर्वक, ईर्यासमिति से गमन कर रहा है। अचानक कोई जन्तु उड़ कर आता है और उसके पैर के नीचे आ जाता है और मर जाता है। तो वहाँ भावहिंसा नहीं, सिर्फ द्रव्य हिंसा होती है और उससे वह हिंसा के पाप का भागी नहीं होता।

इसके विपरीत अगर कोई पुरुष किसी मनुष्य को या पशु को मारने के लिए बंदूक चलाता है, किन्तु संयोगवश निशाना चूक जाता है। यहाँ भावहिंसा तो हुई मगर द्रव्यहिंसा नहीं हो पाई। यह हिंसा हिंसा ही है और गोली चलाने वाला हिंसा के पाप का भागी होता है। कहा भी है:—

शरीरी म्रियतां मा वा, ध्रुवं हिंसा प्रमादिनाम्।
सा प्राणव्यपरोपेऽपि, प्रमादरहितस्य न ॥

अर्थात्—जीव चाहे मरे या न मरे, किन्तु प्रमादयोग वाले को अर्थात् कषाय से प्रेरित होकर अयतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाले को हिंसा का भागी अवश्य होना पड़ता है; किन्तु जो प्रमाद से

रहित है और इस बात की सावधानी रख रहा है कि मेरे द्वारा किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचे, वह अहिंसक है। कदाचित् प्राणव्य-परोपण हो जाय तो भी वह हिंसा के पाप का भागी नहीं होता। क्योंकि उसकी भावना हिंसा करने की नहीं है।

इस विवेचना से साफ हो जाता है कि जिसके अन्तःकरण में दया का वास है और जो यतनापूर्वक प्रवृत्ति करता है, वह तद्विषयक हिंसा के पाप का भागी नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह कहना भ्रमपूर्ण है कि जीवन में प्राणिहिंसा अनिवार्य होने के कारण कोई अहिंसा का पूरी तरह आचरण नहीं कर सकता। क्योंकि—

न यत्प्रमादयोगेन, जीवितव्यपरोपणम्।
त्रसानां स्थावराणां च, तदहिंसाव्रतं मतम्॥

अर्थात्—त्रस और स्थावर जीवों के प्राणों का प्रमाद-योग से नाश न करना ही अहिंसा व्रत माना गया है।

इससे स्पष्ट है की अहिंसा का पालन करने के लिए जीवन की समस्त प्रवृत्तियों को बंद कर देने की आवश्यकता नहीं है, श्वास लेना भी स्थगित कर देना अपेक्षित नहीं है, वरन् प्रमाद का परित्याग करना आवश्यक है। कषाय को नष्ट करना, अज्ञान एवं भ्रम को दूर करना अपेक्षित है। जो विवेकवान् पुरुष प्रमाद का परित्याग करके यतनापूर्वक व्यवहार करता है, वह निश्चय ही अहिंसा का आराधक है।

अहिंसा की आराधना के लिए शास्त्रकारों ने अनेक योजनाएँ की हैं। उनमें से एक महत्त्वपूर्ण योजना यह है कि आराधकों को

परिस्थिति और योग्यता का विचार करके अहिंसा की अनेक कोटियाँ उन्होंने बना दी हैं। उदाहरणार्थ-अहिंसा की मुख्य दो कोटियाँ हैं-महाव्रत रूप अहिंसा और अणुव्रत रूप अहिंसा।

सर्वसंग के त्यागी, गार्हस्थ्य की झंझटों से छुटकारा पा लेने वाले, और एकान्त आत्मसाधना में दत्तचित्त मुनिराज महाव्रत रूप अहिंसा का पालन करते हैं। वे त्रस और स्थावर-दोनों ही प्रकार के जीवों की हिंसा के त्यागी होते हैं। मन, वचन और काय से न स्वयं हिंसा करते हैं, न दूसरों से करवाते हैं और न हिंसा की अनुमोदना करते हैं। वे पूर्ण रूप से हिंसा के त्यागी कहलाते हैं।

गृहस्थ इस श्रेणी की अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। उसे आरंभ-समारंभ करना ही पड़ता है और जहाँ आरंभ-समारंभ है, वहाँ हिंसा अनिवार्य है। अतएव वह केवल त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी हो सकता है। त्रसजीवों की हिंसा से भी पूरी तरह वह बच नहीं पाता। अतएव उसके लिए निरपराध त्रसजीवों की संकल्पजा हिंसा का त्याग करना ही आवश्यक बतलाया गया है।

इस प्रकार अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक साधक को हिंसा का त्याग करके अहिंसा की आराधना करनी चाहिए। लेकिन सदैव इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि साधक का प्रत्येक कदम अहिंसा की ओर ही अग्रसर हो। क्योंकि अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है और उसके अभाव में कोई धर्म नहीं टिक सकता। कहा है—

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥
अहिंसा परमं ध्यानमहिंसा परमं तपः ।
अहिंसा परमं ज्ञानमहिंसा परमं पदम् ॥

अहिंसा परम धर्म है। अहिंसा परम इन्द्रियदमन है। अहिंसा परम दान है और अहिंसा ही परम तप है। अहिंसा परम यज्ञ है। अहिंसा परम फल है। अहिंसा परम मित्र है। अहिंसा परम सुख है। अहिंसा परम ध्यान है। अहिंसा परम ज्ञान है। और अहिंसा ही परम पद है!

कितने भाव पूर्ण शब्दों में अहिंसा का महत्त्व दिखलाया गया है! वास्तव में अहिंसा जगत् की माता है; वही शक्ति है, वही कल्याणकारिणी है। जैन शास्त्रों में अहिंसा का अत्यन्त व्यापक और सूक्ष्म विवरण दिया गया है। उसे समझ कर यथाशक्ति पालन करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

अहिंसा के आराधक को निरन्तर जागृत और सावधान रहना पड़ता है। उसे ऐसे प्रत्येक विचार और आचार से बचना पड़ता है, जिससे उसके व्रत का पूरी तरह या आंशिक रूप से खंडन हो। इसी कारण शास्त्रों में अहिंसा के पाँच अतिचार बतला दिये गये हैं, ताकि साधक उनसे बचता रहे। वह पाँच अतिचार यह हैं:—

(१) वध—क्रोध के आवेश में आकर पशु या मनुष्य आदि को मारना, पीटना, घाव लगाना आदि।

(२) बंधन—कषाय से प्रेरित होकर पशु आदि को ऐसे बंधन से बाँधना कि जिससे उसे कष्ट पहुँचे।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी है कि दया से प्रेरित होकर प्राणी के प्राणों की रक्षा की भावना से उसे बाँध देना या बन्धन से खोल देना अतिचार नहीं है।

(३) छविच्छेद—पशु आदि के अवयव का छेदन करना, चमड़ी काटना, बैल या घोड़ा आदि को खस्सी करना आदि।

(४) अतिभारारोपण—घोड़ा, गधा, भैंसा, ऊँट आदि पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना। नौकरों से अधिक काम लेना।

(५) भक्तपानविच्छेद—जिन पशुओं या मनुष्यों को भोजन पानी देना अपने अधिकार में है, उन्हें यथासमय भोजन पानी न देकर भूखा प्यासा रखना। कोई किसी को आहार देता हो या पानी पिलाकर साता उपजाता हो तो उसे मना करना और अंतराय देना।

अहिंसाणुव्रत के यह पाँच अतिचार जानने योग्य हैं, परन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। अतएव श्रावक को इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। कदाचित् किसी अतिचार का सेवन भूल या प्रमाद से हो गया हो तो उसका प्रायश्चित्त करके शुद्धि करनी चाहिए।

भाइयो! उपर्युक्त विवेचन से यह न समझ लेना कि श्रावक त्रसहिंसा का ही त्यागी होता है, अतएव उसे स्थावरजीवों की दया नहीं करनी चाहिए। सम्यग्दृष्टि पुरुष प्रत्येक हिंसा को त्याज्य ही समझता है। उसकी श्रद्धा और साधु की श्रद्धा में कोई अन्तर नहीं

होता। हाँ, श्रावक स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करने समर्थ नहीं है, इसी कारण वह त्याग नहीं कर पाता है, किन्तु त्यागना अवश्य चाहता है। जिसकी ऐसी दृष्टि होगी और जिसकी श्रद्धा शुद्ध होगी, वह स्थावर जीवों की हिंसा से भी बचने का अधिक से अधिक प्रयत्न करेगा और निरर्थक हिंसा तो कदापि नहीं करेगा।

पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव स्थावरजीव कहलाते हैं। इनमें चार प्राण पाये जाते हैं। जैसे त्रसजीव को वेदना का अनुभव होता है, वैसे ही स्थावर जीवों को भी वेदना का अनुभव होता है। वे भी दुःख से बचना चाहते हैं। दुःख उन्हें अप्रिय है। पृथ्वी आदि के एक-एक कण में असंख्यात तथा अनन्त जीव विद्यमान हैं। पानी के एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं। ऐसा सर्वज्ञों का कथन है। अतएव जहाँ तक संभव है, उनकी रक्षा करना और कष्ट न पहुँचाना हमारा परम कर्त्तव्य है।

जगत् में भांति-भांति के जीव-जन्तु हैं। उन सब में मनुष्य की बुद्धि अधिक विकसित होती है। उसे सब से अधिक समझदार होना चाहिए। अन्य प्राणियों का रक्षक बनना चाहिए। ऐसा करने में ही मनुष्य की बुद्धिमत्ता और विवेक की विशिष्टता है।

मगर खेद की बात है कि सब मनुष्य अपने इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। जैसे सिंह जंगल में गाय, बकरी, हरिण प्रभृति पशुओं का भक्षण कर लेता है, उसी प्रकार मनुष्य भी इन पशुओं का माँस खा जाता है। मनुष्य न पृथ्वीकाय को, न अप्काय को, न तेजस्काय को, न वायु काय को, न वनस्पतिकाय को और न त्रसकाय को ही छोड़ता है। मनुष्य विवेक को तिलांजलि दे देता है और स्वार्थ के वशीभूत होकर किसी भी प्राणी का विनाश करने में संकोच नहीं करता। वह भूल जाता है कि आगे चलकर पाई पाई

का हिसाब चुकाना पड़ेगा। प्रत्येक कृत्य का फल भोगना होगा, प्रत्येक का बदला चुकाना होगा।

भाइयो ! यह तुम्हारे सौभाग्य का फल है कि तुम्हें वीतराग देव की वाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस परमकल्याण-मयी वाणी को श्रवण करने की सार्थकता यही है कि तुम पापों से बचो, हिंसा से दूर रहो और अन्य प्राणियों के प्रति ऐसा व्यवहार करो, जैसा तुम अपने लिए चाहते हो ! कहा भी है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।

अर्थात्—दूसरों के प्रति ऐसा व्यवहार मत करो, जो तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते।

जो बात तुम्हें अप्रिय है, वह औरों को भी अप्रिय है। तुम सुख चाहते हो तो दूसरे प्राणी भी सुख चाहते हैं। तुम कष्ट और पीड़ा से बचना चाहते हो तो दूसरे भी बचना चाहते हैं। अतएव तुम अन्य प्राणियों को अपने ही समान समझ कर व्यवहार करो। श्रीमदाचारांगसूत्र में कहा है—

'जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवन्तो, ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्ण-विंति, एवं परूविंति, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिधित्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए, समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए ॥

—चतुर्थ अ०, प्रथम उ०।

अर्थात्—भूतकाल में जो तीर्थंकर हो चुके हैं, वर्त्तमानकाल में जो तीर्थंकर विद्यमान हैं और भविष्यकाल में जो तीर्थंकर होंगे, उन सब का यही कथन और यही उपदेश है कि किसी भी प्राणी (द्वीन्द्रिय आदि) को, किसी भी भूत (वनस्पतिकाय) को, किसी भी जीव (पंचेन्द्रिय) को और किसी भी सत्व को (पृथ्वीकाय आदि को) डंडे आदि से नहीं मारना चाहिए, उन्हें शारीरिक और मानसिक सन्ताप नहीं देना चाहिए और प्राणों से रहित नहीं करना चाहिए। यह धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। संसार के दुःखों को जान कर सर्वज्ञ भगवान् ने इस धर्म का उपदेश दिया है।

इस कथन से स्पष्ट है कि अहिंसाधर्म अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा।

भाइयो! इसलिए मैं कहता हूँ कि तुम इस शाश्वत धर्म का पालन करो। शास्त्रों की मर्यादा की रक्षा करो। याद रखो, मर्यादा का उल्लंघन करना घोर पाप है।

एक वार एक राजा ने अपनी प्रजा को बाग में जाकर महोत्सव मनाने के लिए आदेश दिया। इस आशय की उसने घोषणा करा दी। साथ ही यह भी ऐलान करा दिया कि जो बाग में नहीं जाएगा और घर रह जायगा, वह दंड का भागी होगा। वह दंड फाँसी से कम न होगा। लोग यह ऐलान सुन कर खाने-पीने का सामान लेकर बाग में पहुँचे और आनन्दपूर्वक महोत्सव में शरीक हुए।

उसी नगर में एक धनी मानी सेठ रहता था। राजा तक उसकी पहुँच थी। उसके छह हृष्टपुष्ट पुत्र थे। सेठ ने पुत्रों से बगीचे में चलने को कहा, मगर उन्होंने जाने से इन्कार कर दिया।

सेठ अपनी सेठानी के साथ बाग में चला गया। सारे शहर में सिर्फ वही छह भाई रह गये, शेष सब बाग में पहुँच गए।

सन्ध्या समय राजा ने अपने कर्मचारियों को हुक्म दिया— अगर कोई शहर में रह गया हो तो उसे मेरे समक्ष उपस्थित करो।

कर्मचारियों ने पता लगाया और सेठ के छहों लड़कों को पकड़ कर राजा के सामने हाजिर किया। राजा उन लड़कों को देख कर क्रोध से तिलमिला उठा। उसने हुक्म दिया—जाओ, राजाज्ञा के उल्लङ्घन के अपराध में इन्हें अभी अंधेरी कोठरी में बंद कर दो। बाद में इनके संबंध में विचार किया जायगा।

छहों लड़के अंधेरी कोठरी में बंद कर दिये गये। वह आपस में सोचने लगे—कोई परवाह नहीं है। पिताजी प्रभावशाली व्यक्ति हैं। प्रातःकाल होते ही वह इस अंधेरी कोठरी से छुड़ा लेंगे। रात भर का ही संकट है!

प्रातःकाल होते ही राजा ने उन छहों लड़कों को फाँसी के तख्ते के हवाले कर देने का हुक्म दे दिया।

विद्युत्-वेग से यह समाचार बाग में जा पहुँचा। बहुत-से नर-नारी और लड़कों का पिता उसी समय भाग कर आये और राजा की सेवा में उपस्थित हुए। वहाँ लड़कों को फाँसी पर लटकाने की व्यवस्था हो रही थी। सेठ अत्यन्त घबरा गया। उसके शरीर से पसीना चूने लगा। उसने गिड़गिड़ा कर राजा से प्रार्थना की— अन्नदाता, यह बालक अबोध हैं। इन्हें क्षमादान दीजिए। प्राणों की भिक्षा दीजिए। इनके प्राणों के बदले इनकी तोल के जवाहरात ले लीजिए। किन्तु मेरे प्राणप्रिय पुत्रों के प्राणों की रक्षा कीजिए।

राजा ने सेठ की प्रार्थना पर कान नहीं दिया और जल्लादों को हुक्म दिया—जल्दी करो, देरी हो रही है।

नगरनिवासीजनों ने भी अनुरोध, आज़ीजी और अभ्यर्थना करने में कसर न रक्खी, किन्तु सब व्यर्थ हुआ। राजा ने किसी की न सुनी।

अन्त में निराश होकर सेठ ने कहा—पृथ्वीनाथ, छहों को क्षमा नहीं करना चाहते तो पाँच को छोड़ दीजिए।

राजा इस पर भी तैयार न हुआ।

तब सेठ बोला—अच्छा, चार के प्राण बचने दीजिए।

राजा फिर भी टस से मस न हुआ। सेठ ने अन्त में कहा महाराज, सब पुत्रों की मृत्यु से मेरे घर में अँधेरा हो जाएगा। दया करके एक पुत्र को तो बचने दीजिए। मेरे कुल की रक्षा तो कीजिए।

राजा का हृदय द्रवित हो गया। उसने एक पुत्र को सेठ के हवाले कर दिया। शेष पाँच पुत्र फाँसी पर चढ़ा दिये गये।

इस उदाहरण का उपनय यह है कि जैसे सेठ को अपने छहों पुत्र समान रूप से प्रिय थे और वह सब के प्राणों की रक्षा करना चाहता था, इसी प्रकार भगवान् को छहों काय के जीवों पर समान रूप से अनुकम्पा है। वे सब की रक्षा करना चाहते हैं। परन्तु विवशता की स्थिति में जैसे सेठ ने एक पुत्र की प्राणरक्षा की याचना की, उसी प्रकार भगवान् ने भी श्रावकों से कहा–तुम किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। फिर भी अगर षटकाय के जीवों की हिंसा से नहीं बच सकते तो कम से कम त्रसकाय के प्राणों की तो रक्षा करो। इतना करोगे तो भी तुम्हारा कल्याण हो जायगा।

भाइयो ! श्रावक का दर्जा पाने के लिए यह आवश्यक है कि आप कम से कम त्रसजीवों की संकल्पजा हिंसा का परित्याग करें और स्थावर जीवों की निष्प्रयोजन हिंसा से बचें। इस प्रकार की मर्यादा करना भी जीवन के लिए हितकर है। यह मर्यादा मनुष्य को स्थूल पाप से बचाने वाली है।

भाइयो, जरा विचार करो कि मर्यादा करने में आपको क्या कठिनाई हो सकती है ? संसार में लाखों वनस्पतियाँ हैं। उन सब को आप जानते भी नहीं हैं, पहचानते भी नहीं हैं। ऐसी दशा में उन सब को खाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। सब मनुष्य के लिए खाने योग्य भी नहीं होतीं। तब अगर आप उनमें से अधिकांश का त्याग कर दें तो आपकी क्या हानि है ? आप बहुत-से पाप से बच सकते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य कामों की भी मर्यादा करके बहुत-से पापों से अपनी आत्मा की रक्षा की जा सकती है। अतएव प्रत्येक वस्तु की मर्यादा कर लो। इससे तुम्हारी आत्मा को शान्ति मिलेगी, विश्रान्ति मिलेगी।

भाइयो ! भगवान् ने संसारी जीव को शान्ति पहुँचाने के उद्देश्य से जो चार भाव-विश्राम बतलाये हैं, उनमें से पहला विश्राम श्रावक के व्रतों को धारण करना है। उन व्रतों में भी प्रथम व्रत अहिंसा है। आज उस पर संक्षेप में विचार किया गया है। आगे का विचार आगे किया जाएगा। आप अहिंसाव्रत को धारण करेंगे तो आनन्द ही आनन्द हो जायगा !

ब्यावर }
२८-७-४१ }

प्यारे ! धर्म करो !

स्तुति:—

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलंकमलिनं क्व निशाकरस्य ।
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

तीनों लोकों की समस्त उपमाओं को जीत लेने वाला और सुरों, नरों तथा उरगों के चित्त को हरण करने वाला आपका मुखमण्डल कहाँ और कलंक से मलीन तथा प्रातःकाल होते ही पाले पड़े हुए पत्ते के समान निष्प्रभ—फीका—दिखाई देने वाला चन्द्रमा

कहाँ ? दोनों में बड़ा अन्तर है। जब चन्द्रमा से भी आपके मुख-मण्डल की उपमा नहीं दी जा सकती तो दूसरे पदार्थ किस गिनती में हैं ? इस कारण संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं दिखाई देता, जिसके साथ आपके मुख की उपमा दी जा सके। अतः वह अनुपम है। निरन्तर तपस्तेज से देदीप्यमान, कोटि कोटि चन्द्रमाओं की छवि से भी उत्तम छवि वाला आपका मुखमण्डल वास्तव में असाधारण और अद्वितीय है।

ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो ! शंका की जा सकती है कि जगत् में जितने भी कार्य हैं, उन सब के कारण अवश्य होते हैं। बिना कारण कभी कोई कार्य नहीं हो सकता। इस न्यायशास्त्र के अटल सिद्धान्त को सामने रखने से प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् को ऐसी अनुपम छवि कैसे प्राप्त हुई ? इसका उत्तर यह है कि प्रभु ने अगर किसी चीज पर अधिक से अधिक बल दिया तो तपश्चर्या और आत्मशक्ति के विकास पर। और तपश्चर्या प्रभाव से ही इतना सुन्दर शरीर प्राप्त होता है। भगवान् की तपश्चर्या सर्वोत्कृष्ट होने से उनका शरीर सौन्दर्य भी सर्वोत्कृष्ट था। एक कवि ने कहा है:—

तप बिन मिले न राज, बांह बिन हटे न दुर्जन।

सत्य तो यह है कि संसार में जो भी सुख या दुःख है, सब अपनी-अपनी करणी का फल है। एक राजा है और दूसरा रंक है, एक श्रीमन्त है और दूसरा गरीब है। एक सुन्दरता से सम्पन्न है और दूसरा कुरूप है। एक स्वस्थ एवं नीरोग है और दूसरा सदैव खाट पर पड़ा कराहता रहता है। समान उद्योग करने पर भी एक

को अपने प्रयत्न में सफलता मिलती है और दूसरे को असफलता का सामना करना पड़ता है। यह सब क्यों होता है।

कई लोग, जो आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास नहीं करते और केवल भौतिक सत्ता पर ही अखण्ड आस्था रखते हैं, कहते हैं कि यह सब वाह्य कारणों से होता है। सधनता और निर्धनता को तथा नीरोगता और रुग्णता को भी वे बाह्य कारणों से उत्पन्न होने वाला ही स्वीकार करते हैं। वे पुण्य-पाप की सत्ता स्वीकार नहीं करते। परन्तु जब सीधा प्रयत्न करने पर भी उलटा परिणाम निकलता है तब उन्हें भी पुण्य पाप की सत्ता अंगीकार करनी ही पड़ती है। दो व्यक्ति समान साधन लेकर एक-सा उद्योग करते हैं; फिर भी उनके उद्योग का फल समान नहीं होता। यह सब केवल वाह्य कारणों का ही फल नहीं है। यह सत्य है कि बाह्य निमित्त भी अपना अस्तित्व और प्रभाव रखते हैं, परन्तु आन्तरिक कारण भी बड़ा प्रबल होता है। उसे अस्वीकार कर देने मात्र से काम नहीं चल सकता।

एक ही माता-पिता के दो पुत्रों में कभी-कभी जमीन आसमान जैसा अन्तर दिखलाई देता है। आन्तरिक कारणों की भिन्नता ही वहाँ मुख्य है। दोनों समान वातावरण में पलते हैं, समान भोजन करते हैं, समान वेषभूषा पहनते हैं, समान शिक्षा के साधन पाते हैं, फिर भी एक विद्वान् बन जाता है और दूसरा मूर्ख बना रहता है! एक बलिष्ठ और नीरोग होता है, दूसरा दुर्बल और रोग ग्रस्त। यह क्यों होता है? किसी आन्तरिक कारण के बिना यह भेद नहीं हो सकता। इसका जो आन्तरिक कारण है, वही पुण्य-पाप कहलाता है। उसे चाहे अदृष्ट कहिए, चाहे धर्माधर्म कहिए, चाहे कुछ और कह लीजिए। नाम में कोई झगड़ा है, वस्तु वही होनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जो जैसा पुण्य-पाप करता है, उसको उसी के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है। तीर्थंकर भगवान् की तपश्चर्या असाधारण होती है, अतएव उसके फलस्वरूप उन्हें असाधारण शारीरिक सम्पदा प्राप्त होती है। यही कारण है कि विश्व की किसी भी वस्तु के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती।

भाइयो ! पुण्य और पाप मुख्य रूप से आपके मन वचन और काम पर निर्भर हैं। इन तीनों की जैसी प्रवृत्ति होगी, वैसा ही पुण्य या पाप आप बाँध सकते हैं। क्योंकि कहा है:—

कायवाङ्मनः कर्मयोगः । स आस्रवः ॥

अर्थात्—मन, वचन और काया की प्रशस्त या अप्रशस्त प्रवृत्ति योग कहलाती है और यही योग आस्रव है।

इस प्रकार मन, वचन और काय, यह तीन जीव की दुकानें हैं। इन दुकानों में ही व्यापार होता है और इन्हीं के द्वारा नफा और नुकसान होता है। अगर यह तीनों न रहें तो न कोई करणी और न तज्जन्य कर्म ही हो सकते हैं। इन तीनों में भी मन की प्रवृत्ति को मुख्य समझना चाहिए। शरीर से परिमित ही क्रिया की जा सकती है और वचन भी परिमित ही बोले जा सकते हैं, परन्तु मन की क्रिया की तो कोई सीमा ही नहीं है। मन तो असीम व्यापार करता है और इसीलिए कहा गया है:—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है।

हे भाइयो ! अनन्त-अनन्त पुण्य के प्रताप से आपको मन की प्राप्ति हुई है। देखो, संसार में कितने जीव बिना मन के-असंज्ञी

अवस्था में भ्रमण कर रहे हैं। उनमें हित-अहित का विवेक नहीं है। वे कल्याण-अकल्याण की बात नहीं सोच सकते। परन्तु आपको यह महान सौभाग्य मिला है। मन के रूप में एक बड़ी जबर्दस्त ताकत आपके पास है। मगर इसकी सार्थकता इसके प्रयोग पर निर्भर है। अगर आप मनको खराब व्यापार में लगाएँगे तो कोई लाभ नहीं होगा, बल्कि हानि ही होगी। इतनी बहुमूल्य वस्तु का दुरुपयोग करके अपना उलटा अहित करना कितनी बड़ी नासमझी है, यह आप स्वयं समझ सकते हैं।

मन को पवित्र कार्य में लगाना आपका प्रथम कर्त्तव्य है। ऐसा करने में न पैसा खर्च होता है और न कोई कष्ट ही उठाना पड़ता है। सहज ही धर्म और पुण्य कमाने का यह सुलभ उपाय है। किसी का बुरा न सोचना, किसी को कष्ट देने का विचार न करना, किसी के धन-जन की हानि होने की भावना न करना, बल्कि सदैव दूसरों के सुख की कामना करना कौन-सा कठिन है?

कई अज्ञान जन व्यर्थ ही दूसरों का बुरा विचारते हैं। अमुक के मकान में आग लग जाय, इसको व्यापार में घाटा पड़ जाय, उसका पूत मर जाय, स्त्री मर जाय इत्यादि अपध्यान किया करते हैं। शास्त्रकार इसे अनर्थदण्ड कहते हैं। यह निरर्थक पाप है। प्रत्येक पाप से बचना चाहिए, किन्तु निरर्थक पाप से तो बचना ही चाहिए। जिस पाप के सेवन से आपको किंचित भी लाभ नहीं है, उसका सेवन करके आप अपने रास्ते में कांटे क्यों बो रहे हैं? अपनी आत्मा को मलीन क्यों कर रहे हैं? मनुष्य होकर और वीतरागप्ररूपित धर्म को श्रवण करके भी अगर आप इतनी सीधी सादी बात नहीं समझ सकते तो आश्चर्य की बात है!

किसी को चिन्तामणि मिल जाय और वह उससे अपना माथा फोड़ ले तो आप उसे क्या कहेंगे? बुद्धिमान कहेंगे या बुद्धिहीन कहेंगे? भाग्यवान् कहेंगे या अभागा कहेंगे? मन तो चिन्तामणि रत्न से भी अधिक मूल्यवान् है। क्योंकि चिन्तामणि चिन्तित पदार्थ की पूर्ति करता है परन्तु चिन्तन तो मन से ही किया जाएगा! मन न होगा तो किससे इष्ट पदार्थ का चिन्तन करोगे? असंज्ञी जीव के पास चिन्तामणि पड़ा हो तो वह उससे क्या लाभ उठा सकता है? उसके लिए वह व्यर्थ है। तो चिन्तामणि की उपयोगिता की पहिचान कराने वाला भी मन ही है। अतएव मन उससे भी अधिक मूल्यवान् सिद्ध होता है। वह भाग्योदय से आपको सहज ही प्राप्त है। फिर भी उसका दुरुपयोग क्यों करते हो? मन का दुष्प्रणिधान करना चिन्तामणि से कपाल फोड़ने की अपेक्षा भी अधिक मूर्खता है!

वचन और तन तो मन के चेरे हैं। जिस रास्ते मन उन्हें ले जाएगा वे उसी रास्ते चले जाएंगे। अतएव मन को शुभ बनाने से वचन और काया की प्रवृत्ति भी शुभ होने लगेगी। इस प्रकार जब तीनों योग शुभ होकर रहेंगे तो आप अशुभ कर्मबन्धन से बच जाएंगे। मन, वचन और काय के रूप में आपको जो शक्तियाँ मिली हैं, इनसे आप अपने को तार भी सकते हैं और मार भी सकते हैं। अजर-अमर भी बना सकते हैं और जन्म-मरण के अनन्त स्रोत में भी गिरा सकते हैं। अब यह निर्णय करना आपका कर्त्तव्य है कि आप क्या चाहते हैं? समझदार हो तो गंभीरता से विचार करो।

मन वचन कर्म की हट्टी है, आतमा इसका अधिकारी है।
टोटा और नफा स्वयं भोगे, इसमें नहिं साझेदारी है॥

भाइयो ! मन वचन और काया, यह तीन दुकानें हैं और इन्हीं के द्वारा आत्मा व्यापार करता है। इन्हीं तीन दुकानों के द्वारा नफा और नुकसान होता है। जैसा-जैसा माल खरीदोगे, वैसा ही पाओगे। जैसे कर्म करोगे वैसा ही फल पाओगे। जब संसार के समस्त प्राप्त वैभव का परित्याग करके यहाँ तक कि शरीर का भी त्याग करके आत्मा निकलता है, तब खुद के किये कर्म ही साथ जाते हैं और उन्हीं के अनुरूप परभव में दुःख या सुख की प्राप्ति होती है। भगवान् महावीर स्वामी ने भी श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में फर्माया है:—

कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छइ उ परं भवं।
सोऊण तस्स सो धम्मं, अणगारस्स अंतिए॥

सुनो भाइयो ! एक राजा शिकार करने के लिए वन में गया। वहाँ उसने एक मृगयूथ को देखा और उसमें से एक हिरण को लक्ष्य करके बाण चलाया।

विचार होता है, राजा शिकार करने क्यों गया ? क्या छोटे छोटे पशुओं की हत्या करने में उसकी कोई बहादुरी थी ? क्या उन पशुओं के पास, जो घास खाकर और सरोवर का पानी पीकर अपनी जिंदगी व्यतीत करते हैं, कोई खजाना था, जिसे पाने के लिए राजा उनके प्राण लेने पर उतारू हुआ है ? क्या जंगल में विचरण करने वाले उन दीनहीन पशुओं ने राजा के किसी कानून का उल्लङ्घन किया था कि वह उन्हें सजा दे रहा था ? आखिर क्यों उसने उन निरपराध और निशस्त्र पशुओं के प्राण लिये ? इनमें से कोई भी कारण नहीं था। बेचारे पशु किसी पर डाका नहीं डालते। किसी का कुछ नहीं बिगाड़ते। फिर भी मनुष्य उनकी

हत्या करता है। यह मनुष्य का मनुष्येतर प्राणियों के प्रति घोर अन्याय और अत्याचार है। पर उन मूक प्राणियों की वकालत करने वाला कौन है? लोकोक्ति है—जवर्दस्त का ठेंगा सिर पर मनुष्य सवल और शक्तिशाली प्राणी है और निर्वल प्राणियों के साथ जैसा सलूक करना चाहे, कर सकता है। वे फरियाद करने जाएँ तो कहाँ जाएँ? उन वेचारों की कौन सुनता है?

हम जैसे कुछ लोग हैं जो उनके पक्ष में चिल्लाते हैं, परन्तु हमारे सम्पर्क में आने वाले कितने लोग हैं? हमारे पास भी अपनी वात को मनवाने के लिए कोई सत्ता नहीं है। हम उपदेश करते हैं। आपकी सोई हुई आत्मा को जगाने का प्रयत्न करते हैं। आपकी सद्‌भावनाओं पर तो आच्छादन आया हुआ है, उसे दूर करने का प्रयास करते हैं। आपकी नैतिक भावना को उभाड़ना चाहते हैं परन्तु संसार वहुत वड़ा है और प्राणी मात्र की आत्मा को समान समझ कर उन पर करुणा करने वाले और करुणा का उपदेश देने वाले सन्त थोड़े हैं। यही कारण है कि संसार में निरपराध जीवों को आखेट के नाम पर, धर्म के नाम पर या जिह्वा-लोलुपता आदि के लिए घोर हिंसा हो रही है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस राजा को यदि संतों की संगति करने का अवसर मिला होता तो वह शिकार खेलने न गया होता। परन्तु उसे सत्संग नहीं मिला। सत्संग के विना सच्चा ज्ञान प्राप्त होना कठिन है। जिस व्यक्ति को वाल्यावस्था से ही सत्संगति का लाभ हो जाता है, वह सैकड़ों वुराइयों और निरर्थक पापों से वचकर अपने जीवन को उच्च और पवित्र वना सकता है।

आज के वालकों, विद्यार्थियों और नवयुवकों को देखते हैं तो प्रतीत होता है कि वे सत्संग से और धर्म से कोसों दूर भागते

हैं। साधु-सन्तों के पास जाना और उनका उपदेश सुनना उन्हें व्यर्थ जान पड़ता है। वे सिनेमा के शौकीन बन गये हैं। धर्म से विमुख बनाने वाले, विलासवृत्ति और विकार भावना जगाने वाले, जीवन के अणु-अणु में अनैतिकता के विष को घोलने वाले और जिंदगी को सत्यानाश करने वाले चलचित्रों के प्रति उन्हें अभिरुचि है। वे पैसे देकर विनाश को मोल लेने के लिए उतावले रहते हैं। परन्तु घड़ी भर किसी सन्त पुरुष के पास जाकर नीति और धर्म की बात करना पसन्द नहीं करते !

यही नहीं, कुछ लोग तो खुल्लमखुल्ला धर्म और ईश्वर का विरोध भी करने लगे हैं। कहते हैं—धर्म ढोंग है और ईश्वर पाखण्ड है ! कुछ लोग धर्म को झगड़ों का कारण समझते हैं और उसे हेय कह कर अपनी अक्लमंदी का परिचय देते हैं।

परन्तु मैं कहता हूँ कि ऐसे लोग नादान हैं। वे धर्म के स्वरूप को किंचित भी नहीं समझते हैं। धर्म ही संसार में शान्ति और सुख का एक मात्र आधार है। धर्म ही जगत् को धारण कर रहा है। धर्म के विना दुनियाँ टिक नहीं सकती जिस दिन दुनिया से पूरी तरह धर्म उठ जाएगा, उसी दिन प्रलय की काली घटाएँ उमड़ पड़ेगी। अहिंसा, संयम, तप, यह धर्म है। कौन कह सकता है कि इस धर्म की बदौलत संसार को कभी हानि पहुँची है या आगे पहुँच सकती है ? लेकिन जिनके दिमाग में मिथ्याज्ञान की दुर्गंध भरी है, उन्हें कैसे समझाया जा सकता है ?

ऐसा भ्रमपूर्ण विचार रखने वाले लोग आज बढ़ते जा रहे हैं और सच पूछिए तो इसी कारण दुनिया के दुःख बढ़ते जा रहे हैं। जो लोग ऐसे गंदे विचार रखते हैं, उनकी सन्तान भी इसी प्रकार की मलीन विचार वाली होती है। किसी ने कहा है:—

जैसे होंगे नदी नाले, वैसे उनके कड़का कड़की।
जैसे होंगे माता-पिता, वैसे उनके लड़का लड़की॥

जो लोग प्रातः सायं धर्मक्रिया करते हैं, प्रतिदिन सन्तों का उपदेश सुनते हैं और धर्म स्थान में जाकर आध्यात्मिक विचारधारा को जगाते हैं, उनके बालक भी उनका अनुकरण करते हैं। अथवा वे बालकों को ऐसा करने के लिए प्रेरणा दे सकते हैं। परन्तु जो लोग स्वयं धर्म से विमुख हैं वे अपने बालकों कैसे प्रेरणा देंगे? और उन बालकों का आगे चल कर क्या हाल होगा? पहले के गृहस्थ स्वयं धर्मक्रिया करते थे। साथ ही उन्हें किसी जीव को न सताने की, पराई चीज विना पूछे न उठाने की तथा देव गुरु धर्म पर श्रद्धा रखने की शिक्षा दिया करते थे। पर आज इस ओर किसी का लक्ष्य ही नहीं दिखाई देता।

उस राजा को सत्संगति नहीं मिली थी। इस कारण वह क्षत्रिय के वास्तविक कर्त्तव्य से भी अनभिज्ञ था। क्षत्रिय का कर्त्तव्य तो यह है कि वह सबल से निर्बल की रक्षा करे; किसी पर अन्याय-अत्याचार न होने दे और ऐसा वातावरण बनाए कि सब सुख-शान्तिपूर्वक अपना जीवन निर्वाह कर सकें। राजा अपने इस कर्त्तव्य से अनभिज्ञ होने के कारण निरपराध जीवों की हत्या करने के लिए वन में गया। उसने हिरन यूथ पर बाण चलाया। किसी ने ठीक ही कहा है:—

वसन्त्यरण्येषु चरन्ति दूर्वाम्,
पिबन्ति तोयान्यपरिग्रहाणि।
तथापि वध्या हरिणा नराणाम्।
को लोकमाराधयितुं समर्थः॥

बेचारे हिरण वन में निवास करते हैं, दूब-घास खाकर जीवनयापन करते हैं, पानी पीते हैं और शरीर के सिवाय कोई सम्पत्ति उनके पास नहीं होती । फिर आश्चर्य की बात है कि मनुष्य हिरणों का वध करता है । सच है—संसार को समझाना बड़ी टेढ़ी खीर है ।

एक विद्वान् इस हिंसा पर विचार करते-करते विस्मित हो जाते हैं । उनकी कल्पना में ही नहीं आता कि समझदार मानव प्राणी किस प्रकार इतना क्रूर हो सकता है कि वह निरपराध जीवों की हत्या करे ? वह कहते हैं—

कण्टकैरपि ये विद्धा, दुःखं जानन्ति चात्मनः ।
ते दुष्टा भल्लकैः कृत्वा, हिंसां च कुरुते कथम् ॥

पाँव में कांटा लग जाने पर भी जिन्हें वेदना होती है—जो दुःख से कराहने लगते हैं, वही दुष्ट भाले मार-मार कर पशुओं की हिंसा कैसे करते होंगे ? क्या उन्हें यह खयाल नहीं आता होगा कि मुझसे तो कांटे की पीड़ा भी नहीं सही जाती तो इन पशुओं को भाले भौंकने पर कैसी वेदना होगी ? मगर हाय रे विवेकहीन मानव ! तू जरा भी विचार नहीं करता !

राजा भी ऐसा ही विवेकहीन था । उसके अन्तःकरण की दैवी भावनाएँ सोई हुई थीं । उसका भीतर का 'देवता' जागृत नहीं था । अतएव उसने तीर चलाया । तीर निशाने पर लगा । हिरण उस तीर से विंध कर जमीन पर लौटने लगा और वेदना से विकल होकर तड़फने लगा ।

जहाँ हिरण मारा गया, वहीं एक महान् मुनिराज ध्यानस्थ विराजमान थे । राजा अपने शिकार को लेने के लिए उसी जगह

पहुँचा, जहाँ वह महात्मा समाधि में मग्न थे वह आत्माराम में रमण कर रहे थे। संसार से ही नहीं, देह से भी पृथक् अपनी चिदानन्द-चेतना में तल्लीन थे। राजा वहाँ पहुँचा तो उसकी दृष्टि ध्यानमग्न मुनिराज के ऊपर पड़ी। मुनि को देखते ही राजा भय-भीत हो उठा और व्याकुल होकर दीन शब्दों में, हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाने लगा—गुरुदेव! मैं आपका अपराधी हूँ। मुझे ज्ञात नहीं था कि यह हिरण आपका है। मैं ने अज्ञान से आपके हिरण को तीर लगा दिया है। अनुग्रह करके मुझे क्षमा प्रदान कीजिए। महात्मन्! मेरी प्रार्थना को अंगीकार कीजिए और मुझे अपराध से मुक्त कीजिए।

भाइयो! राजा का भयभीत हो जाना और गिड़गिड़ा कर क्षमायाचना करना किसका प्रभाव था? यह मुनिराज के अतिशय, आत्मबल, तपस्तेज और धर्मभाव का ही प्रताप था। मुनिराज का अन्तस्तल करुणा से ओतप्रोत था। उनके चित्त से अहिंसा, अनु-कम्पा और दया की विमल धारा प्रवाहित हो रही थी। उसी के प्रभाव से राजा की हिंसकवृत्ति भाग गई और वह विनीत शब्दों में क्षमा की भीख माँगने लगा।

किन्तु मुनि ध्यान में लीन थे। दुनिया से दूर थे। उन्हें क्या पता था कि बाह्य जगत् में क्या घटनाएँ घट रही हैं? वे तो अपने ही अन्तर्जगत् में मस्त थे। सच्चे साधु तो ऐसे आत्मनिष्ठ होते हैं। कहा है:—

ऐसे सन्त जगत् में कहना, मुख बोले अमृत वैना।
धन दौलत माया त्यागे, राव-रंक चरणां लागे जी।
नहीं रखे कुत्ता तोता मैना ॥१॥

मुनि अतिशय दयावान् होते हैं। राजा के दीनता और करुणा से भरे शब्द सुन कर उन्होंने ध्यान खोल दिया और राजा से कहा-राजन् ! मैं तुझे अभय देता हूँ।

अभयो पत्थिवा ! तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥

हे राजन् ! तुझे अभय है; मगर तू भी तो अभयदाता बन ! लेना ही लेना किसी भद्र पुरुष का काम नहीं है। न्यायपरायण पुरुष लेता भी है और देता भी है। तू मुझसे अभय ले रहा है तो तेरा कर्त्तव्य है कि तू भी दूसरों को अभय दे।

पार्थिव ! तुमने मुझसे अभय की याचना की। जब तक मैं बोला नहीं तब तक तुम दुःखी रहे और जब मैंने तुम्हें अभय-वचन कहा तो तुम्हें प्रसन्नता हुई। इसका अर्थ यह है कि अभय पाकर प्राणी के हृदय में प्रमोदभाव उत्पन्न होता है। देखो, यह वन्य पशु तुम जैसे शिकारियों से बहुत दुःखी हैं। अगर तुम्हारी ओर से इन्हें अभय मिले तो इन्हें भी प्रमोद होगा। अतएव तुम भी इन वनचर प्राणियों को अभयदान दो। इससे तुम्हें भी बहुत शान्ति मिलेगी। क्योंकि—

सव्वेसु दाणेसु अभयप्पयाणं।

अर्थात्—सभी दानों में अभयदान प्रधान है।

जीव को अपने प्राण सबसे अधिक प्रिय होते हैं। वह अपना सर्वस्व दे करके भी प्राणों की रक्षा करना चाहता है। इस सचाई को समझने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है।

आप अपने संबंध में विचार कर देखिए। जो बात अपने विषय में है वह दूसरों के लिए भी समझ लेना चाहिए। कहा भी है—

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।

जैसे तुझे अपने प्राण प्यारे लगते हैं, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी अपने-अपने प्राण प्रिय हैं। अतएव अपने प्राणों की तरह दूसरे के प्राणों की भी रक्षा करना तेरा धर्म है। तू दूसरों को अभय देगा तो तुझे भी अभय मिलेगा। कहा भी है:—

आराम के बदले तुझे आराम मिलेगा।
नेकी का बदला नेक सुबह शाम मिलेगा॥
चमकोगे सूर्य की तरह तुम कैसे छिपोगे?
ऐ सताने वालो! कहो कैसे तिरोगे?

भाइयो! जो जैसा करेगा, वैसा ही पाएगा। जैसे बीज बोएगा, वैसे फल चखने को मिलेंगे। दया किये बिना कुछ भी मिलने को नहीं है। अतएव प्राणियों पर दया करो। प्राणियों पर दया करना अपने आप पर दया करना है। अतएव अपनी भलाई के लिए, अपने कल्याण के लिए प्राणियों की दया पालो।

देखो, मुनिराज ने काम्पिल्यपुर के उस राजा संयती से कहा—हे राजन्! तू अपने मन, वचन और काय के द्वारा जैसे कर्म उपार्जन करेगा, वही तेरे साथ जाएंगे। कोई आदमी नाना प्रकार के पापों का आचरण करके धनोपार्जन करता है, किन्तु धन उसे अमर नहीं बना सकता। एक न एक दिन उसे मरना ही पड़ेगा। और जब मरना पड़ेगा तब वह धन साथ में नहीं जायगा।

धन यहीं रह जायगा, मगर किये हुए पापकर्म अवश्य ही उसके साथ जाएंगे।

एक चोर चोरी करके धन ले जाता है और स्टेशन पर पहुँचता है। पीछे से पुलिस तार और टेलीफोन करके उसे पकड़ लेती है। इसी प्रकार पाप कर्म करने वाले यमदूतों के द्वारा पकड़े जाते हैं। उनके पापकर्म ही टेलीफोन का काम करते हैं। पुलिस चूक सकती है, परन्तु कर्म कदापि नहीं चूक सकते। उनके फल से बचना असंभव है।

बड़ौदा के राजा, राजा बनने से पहले मामूली आदमी थे। वह दो भाई थे। एक बार राजगद्दी पर बिठलाने के लिए राजा की आवश्यकता हुई। तो बड़े भाई को छोड़ कर छोटे भाई को राजगद्दी दी गई। यह छोटा भाई जंगल में भेड़ चराने गया था। सुना जाता है कि यह लड़का किसी पेड़ के नीचे सोया था। उसके मुख पर धूप आने लगी तो एक सर्प ने आकर अपना फण फैलाया और छाया कर दी। यह दृश्य देख कर समझा गया कि लड़का भाग्यशाली है और इसे राजगद्दी पर बिठलाना चाहिए।

उदयपुर के महाराणा फतहसिंहजी भी एक छोटे-से गाँव के ठाकुर थे। भोई वाले राजा, राजा बनने से पहले दर्जी का काम करते थे। इन सब के पुण्य ने अपना प्रभाव दिखलाया और वे राजा बन गये। सारांश यह है कि जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है।

पूर्व जन्म का किया मिला, अब करो वही फिर पाओगे।
जो गफलत में समय गया तो मित्रो ! फिर पछताओगे ॥

जो किया है उसका फल भोग रहे हो और जो कर रहे हो उसका भविष्य में फल पाओगे। इस अटल सिद्धान्त को समझ लो और प्रमाद का परित्याग कर दो। यदि प्रमाद में पड़े रहे और विषयवासना की ही लहरों में बहते रहे तो मित्रो ! पछताना पड़ेगा।

भाइयो ! ज्ञानी जन करुणा करके संसार के प्राणियों को सावधान करते हैं और पाप का आचरण न करने की प्रेरणा करते हैं और कहते हैं—धर्म करो, धर्म करो, धर्म ही तुम्हारा कल्याण करेगा। देखो, वह मुनि, जिनका नाम गर्दभाली था, राजा संयती से कह रहे हैं—नरपति ! तू अच्छा काम कर। बुरे काम छोड़ दे। बुरे का परिणाम बुरा होता है।

उज्जैन में एक करोड़पति सेठ के लड़के को उसकी माता कहा करती थी-बेटा, बासी टुकड़ा खाने में क्या मजा है ? एक दिन उस लड़के ने माता से पूछा—बासी टुकड़े कैसे ?

माता ने कहा-इसका मतलब समझना है तो नगर के बाहर एक मुनिराज विराजमान हैं, उनके पास जाकर समझो।

लड़का मुनिराज के पास पहुँचा। उसने मुनि को वन्दना करके कहा—गुरुदेव, मेरी माता कहती है—बासी टुकड़े खाने में क्या मजा है ? कृपा करके मुझे समझाइए कि इसका अर्थ क्या है ?

मुनिराज ने कहा—चम्पा नगरी के पास चेटक नामक एक भंगी रहता है। तू उसके पास जा। वह तुझे इसका मतलब बतलाएगा।

लड़का घर आया और माता की अनुमति लेकर चम्पा के लिए रवाना हुआ। चम्पा पहुँचा और किसी सेठ की दुकान पर जाकर पूछा—चेटक भंगी कहाँ रहता है ?

वह सेठ बड़ा अजीब आदमी था। उसके बाल बढ़े हुए और अस्तव्यस्त थे। नाखून ऐसे मालूम होते जैसे जिंदगी में कभी कटे ही न हों! दांत गंदे, पीले और सड़े हुए थे। शरीर काला-कलूटा था और कपड़ों से ऐसा जान पड़ता मानो दरिद्रता मनुष्य की आकृति धारण करके आ उपस्थित हुई है। फिर भी वह चार करोड़ का मालिक था। सेठ ने इस लड़के से कहा—क्या लेना है?

लड़का—लेना कुछ नहीं है। चेटक भंगी का ठिकाना बतला दो।

सेठ—जा जा; इतनी देर में तो दो ग्राहकों से बात करता। खैर, सीधा चला जा। आगे एक दरवाजा मिलेगा। उसके बाहर एक मकान मिलेगा, जिसके बाहर घंटी लगी है। वही चेटक का मकान है।

लड़का सीधा सेठ के बतलाये मार्ग पर आगे बढ़ा। दरवाजा पार करके उसने देखा—यही घंटीवाला मकान चेटक का होना चाहिए। मकान छोटा-सा था, मगर साफ सुथरा था। उसके सामने एक बूढ़ा बैठा था। लड़का उसके पास पहुँचा। उससे पूछा चेटक कहां रहते हैं?

वही बूढ़ा चेटक था। उसने कहा—चेटक मेरा ही नाम है। आप यहाँ किस प्रयोजन से आए?

लड़के ने पिछली सारी कथा कह सुनाई। चेटक समझ गया कि यह मेरा साधर्मी भाई है। इसके गुरु वही है जो मेरे गुरु हैं। इसके बाद चेटक ने कहा—आप मेरे साधर्मी भाई हैं और गुरु भाई भी हैं। दूर से आए हैं। थोड़ा विश्राम कर लीजिए, भोजन कर लीजिए। फिर मैं आपके प्रश्न का उत्तर दूंगा।

लड़का सोच-विचार में पड़ गया ! साधर्मी भाई होने पर भी आखिर चेटक जाति का भंगी है ! मैं महाजन हूँ—सेठ का लड़का हूँ। इसके घर का भोजन कैसे करूँ ?

मगर चेटक अनुभवी आदमी था। वह फौरन ही लड़के की मनोभावना को समझ गया और बोला—सोच-विचार मत करो। मैं दुकान से सामान दिला दूंगा। आप स्वयं भोजन बना लेना।

चेटक लड़के के साथ उसी पहले वाले सेठ की दुकान पर आया। उसने सेठ से कहा—इन्हें जो सामान चाहिए, दे दीजिए। उसने सेठ को चार रुपये दे दिये।

चेटक इतना कह कर और दाम देकर चला गया। सेठ ने पूछा—कहो भाई क्या सामान दे दूं ?

लड़का—ऐसा सामान दो कि जल्दी से जल्दी भोजन बन जाए।

सेठ ने अपनी औरत के पास जाकर पूछा—जल्दी से जल्दी क्या भोजन बनता है।

सेठानी ने कहा—कढ़ी और रोटी !

सेठ—तो बना दो और बाहर खड़े आदमी को जिमा दो।

भाइयो ! आप सोचते होंगे—यह करोड़पति का लड़का था। क्या अपने पैसे से भोजन खरीद कर नहीं खा सकता था ? उसने भंगी के दामों से भोजन करना क्यों स्वीकार किया ? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि अपने दामों का भोजन करना उसके लिए बड़ी बात नहीं थी। फिर भी वह चेटक का अतिथि था और चेटक कोई साधारण व्यक्ति नहीं था। उसे अपने प्रश्न का

उत्तर पाने के लिए मुनिराज ने चेटक के पास भेजा था। ऐसी स्थिति में चेटक की ओर से भोजन करना वह अस्वीकार नहीं कर सकता था। ऐसा करने में चेटक का अपमान था। कोई अतिथि दूर देश से आपके घर पर आवे और अपने पैसे से भोजन करे तो क्या आप अपना अपमान नहीं समझेंगे? यही सोच कर संभवतः लड़के ने कोई आनाकानी नहीं की और चेटक की ओर से भोजन करना स्वीकार कर लिया।

सेठानी ने लड़के से पूछा—बोलो, क्या जीमना चाहते हो?

लड़का—जो भोजन जल्दी बन जाय वही जीम लूंगा।

लड़का बैठ गया और सेठानी भोजन बनाने लगी। भोजन बनाते-बनाते सेठानी ने सहज ही पूछ लिया—बच्चे तुम कहाँ के निवासी हो?

लड़के ने अपना परिचय दिया और पिछली सारी कथा कह सुनाई।

लड़के का परिचय पाकर सेठानी ने कहा—अरे! तू तो मेरा भाई है! मैं ने विवाह के बाद कभी मायके का मुंह नहीं देखा आज तू मेरा भाई अचानक मेरे घर आ पहुँचा! धन्य भाग्य है मेरा! थोड़ा ठहर जा भैया, ठीक तरह भोजन की तैयारी करूंगी।

लड़के ने कहा—आज तो मैं अपने साधर्मी भाई का ही भोजन करूँगा। कल तुम्हारे यहाँ जीमने में कोई बाधा नहीं है।

आखिर यही हुआ। चेटक की ओर से भोजन करके वह लड़का तत्काल चेटक के घर की ओर रवाना हुआ। वहाँ पहुंचा तो उसने विचित्र दृश्य देखा। चेटक के घर के बाहर १०-१५

आदमी मातमी सूरत बनाये बैठे थे और कुछ लोग रो रहे थे। यह हाल देख लड़के ने पूछा—क्यों भाई, क्या बात हो गई? चेटक कहाँ है?

बैठे लोगों में से एक ने बतलाया-अभी-अभी उनकी मृत्यु हो गई है!

यह सुन कर लड़का अत्यन्त गंभीर विचार में पड़ गया। मगर किसी से कुछ भी कहे-सुने बिना, चुपचाप अपनी बहिन के घर लौट आया। उसने बहिन के पास बैठकर इधर-उधर की बातचीत की और कहा-आज तुम्हारे यहाँ का भोजन करूँगा।

बहिन ने अपने भाई के लिए घेवर बनाने का विचार किया। उसने अपने पति से कहा—आज मेरा भाई आया है। मैं उसके लिए घेवर बनाऊँगी! यह सुन कर वह मूंजी सेठ बड़ा ही कुपित हुआ! उसने अपनी पत्नी को आड़े हाथों लिया और कहा—मेरा भाई आया था. उसे तो मैंने पानी भी नहीं पिलाया! तू अपने भाई के लिए घेवर बनाएगी! कभी नहीं बनाने दूंगा!

सुना भाइयो! आपने? उस मूंजी ने अपने भाई को पानी भी नहीं पिलाया! करोड़पति की यह हालत है! जहाँ ऐसे मूंजी इकट्ठे हो जाएँ वहाँ कल्याण ही समझो!

आखिर सेठानी ने पड़ौसी के घर से सामान लेकर भाई के लिए घेवर बनाने का उपक्रम किया। सेठ ने घर में आकर पूछा—क्या कर रही है? भोजन बन गया कि नहीं?

सेठानी—और सब चीजें बन गई हैं, सिर्फ घेवर बाकी हैं। यह भी जल्दी-बनाए डालती हूँ।

सेठ यह सुन कर ऊपर से नीचे तक जल-भुन गया। क्रोध से कांपते हुए बोला—अरी चाण्डालिन् ! तू बड़ी खराब औरत है। पति की आज्ञा तो मानती ही नहीं ! मैं ने घेवर बनाने को मना कर दिया था, फिर भी तू ने मनमानी की ?

इस प्रकार कह कर सेठ अपने ही हाथों अपनी छाती पीटने लगा। छाती पीटता-पीटता वह वहाँ से चला गया और एक कोठरी में जाकर बेहोश होकर गिर पड़ा ! वह उसी समय नीलाम बोल गया !

भाइयो ! कृपण जनों की ऐसी ही दुर्दशा होती है। वे हाय-हाय करते करते ही जीते हैं और हाय हाय करते ही मरते हैं ! वे अपने धन का न स्वयं उपभोग कर सकते हैं, न दूसरों को करने देते हैं। किसी ने क्या ही अच्छा कहा है—

कृपणेन समो दाता, न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि, यः परेभ्यः प्रयच्छति ॥

अर्थात्—कंजूस के समान दाता इस भूतल पर न जन्मा है और न कभी जन्मेगा। बड़े से बड़े दाता भी अपने लिए कुछ न कुछ शेष रख लेते हैं, परन्तु बेचारा कंजूस तो अपने सर्वस्व को हाथ भी नहीं लगाता और सब का सब दूसरे को देकर चला जाता है !

इसी सेठ को देख लीजिए। करोड़ों की सम्पत्ति उसके पास थी। मगर उसने न कभी कौड़ी दान की, न अच्छा खाया-पिया और न किसी को अपने जीते जी खाने दिया ! सब का सब सँभाल कर रक्खे रहा और आखिर सब ज्यों का त्यों छोड़ कर चला गया।

ऐसा महान् दानी संसार में कृपण के समान और कौन मिलेगा ? हिन्दी में कहा है—

दातारों को मजा यही, धन खाने और खिलाने में।
है कंजूसों को मजा यही, धन जोड़ जोड़ मर जाने में ॥

हाँ, तो सेठ महायात्रा के लिए प्रस्थान कर गया और सेठानी को पता ही नहीं चला। वह रसोई घर में भोजन बनाती रही। जब घेवर बन कर तैयार हो गए तो उसने अपने भाई से कहा—जाओ भैया, अपने बहिनोईजी को बुला लाओ। वह गया और बोला—बहिनोईजी ! चलिए, भोजन तैयार है। भोजन कर लीजिए !

मगर बहिनोईजी तो नीलाम बोल गए थे ! उत्तर देता तो कौन देता ? आखिर वह लौट गया और अपनी बहिन से बोला—वह बोलते ही नहीं हैं !

बहिन—अच्छा, तुम जीमो मैं जाकर मना लाऊँगी। सेठानी फिर कहने लगी—देख भैया, मेरे घर में चार करोड़ नकद पड़े हैं और लाखों का व्यापार चल रहा है। फिर भी इन्हें सन्तोष नहीं है। आज घेवर बनाने के कारण इतना क्रोध किया कि न पूछो बात ! अपनी छाती पीटने लगे ! ऐसी मुसीबत में आ पड़ी हूँ कि कहते नहीं बनता ! तू ही कह, क्या करूँ, क्या न करूँ !

भाइयो ! कोई भी व्यक्ति लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति इकट्ठी कर सकता है, किन्तु पुण्य के बिना वह भोग नहीं सकता। खेत में किसान अड़वा (बिजूका) खड़ा कर देते हैं। वह न स्वयं खाता है और न पक्षी आदि को खाने देता है। इसी प्रकार कृपण

जन न खुद खा सकता है और न दूसरे को खाने देता है। वह धन का पहरेदार मात्र है। उसकी रखवाली करना ही उसका काम है।

हाँ, तो सेठानी उस कंजूस सेठ को बुलाने गई। सेठ जब न उठा तो उसने हाथ पकड़ कर उठाने का प्रयत्न किया। तब उसे पता चला कि वह तो चल बसे हैं!

आखिर पति के मृत कलेवर को वहीं छोड़ कर वह रोती-रोती अपने भाई के पास पहुँची। बोली—भाई, तुम्हारे बहिनोईजी तो हमें छोड़ कर चले गये! अब मेरा क्या होगा? हाय, इतनी बड़ी गृहस्थी को कौन संभालेगा? लाखों का कारबार यों ही डूब जायगा। आगे-पीछे कोई भी तो नहीं है!

भाई ने बहिन को खूब आश्वासन दिया। उसने कहा—बहिन, चिन्ता करने से कुछ होने वाला नहीं है। जो होनहार होगा सो होगा। मैं तुम्हारे पास हूँ। जैसा कहोगी वैसा करूंगा। तसल्ली रक्खो। धैर्य के साथ परिस्थिति का मुकाबिला करो। धैर्य छोड़ देने से कठिनाईयाँ बेहद बढ़ जाती हैं। अतएव बहिन, हिम्मत न हारो। जो हो चुका है, वह मिटने वाला नहीं है।

सेठानी बोली—भैया, मेरी जन्मपत्री में लिखा है कि मेरे एक पुत्र अवश्य होगा। मुझे भी यही जान पड़ता है। जन्मपत्री संभवतः झूठी नहीं होगी। अतएव तुम कुछ दिनों तक यहीं ठहरो। बहनोईजी को जलाना ठीक नहीं है। राजा को पता चल जायगा तो वह सारा धन अपने अधिकार में कर लेगा। मकान के पीछे जो बाड़ा है, उसमें गड़हा खोद कर इन्हें गाड़ देना चाहिए।

सेठानी फिर बोली—तू कम से कम तीन महीने तक यहीं

रहना। अगर मालूम हो जाय कि पुत्र होगा तो अधिक दिन ठहर जाना, नहीं तो जैसी इच्छा हो सो करना।

भाई ने वहिन की वात मान ली। जव उसे मालूम हुआ कि वहिन गर्भवती है तो वह और अधिक समय तक ठहरा रहा और उसका व्यापार-धन्धा संभालता रहा।

आखिर प्रसव का समय सन्निकट आ गया। तव वहिन ने भाई से कहा—भैया. नाइन को वुला लो।

नाइन वुलाई गई। उसने आकर घर में प्रवेश किया ही था कि वच्चा जन्म लेकर वोल उठा—मामा! मामा! मामा!

यह शब्द सुनते ही सेठानी ने अपने भाई को पास वुलाया। उसके आते ही लड़के ने कहा—मामा, जिस चेटक भंगी के पास तुम आये थे, उसकी औरत ने अभी—अभी वच्चे को जन्म दिया है। तुम २०-२५ रुपये और जापे का सामान लेकर जल्दी उसके घर जाओ और उस वालक को वचाओ। नहीं तो वह उसे मार डालेगी।

नवजात शिशु के मुख से ऐसी स्पष्ट और गुह्य वात सुनकर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। परन्तु वह चुपचाप वालक की रक्षा के निमित्त उसी समय चल पड़ा। उसने जापे की सामग्री के साथ रुपये ले जाकर दिये और कहा—वच्चे की हिफाजत रखना। आवश्यकता होने पर और भी सहायता मिल जाएगी।

भंगिन ने कहा-सेठजी, तुम न आते तो मैं अभी इसका काम तमाम कर देती। अव व्यवस्था हो गई है तो काहे को मारूँगी!

भंगिन के घर से वह जल्दी ही वापिस लौट आया। उसके आश्चर्य का पार नहीं था। वहुत-वहुत विचार करने पर भी उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। पहले वह चेटक के पास गया तो चेटक मर गया। वहिनोई के घर आया तो वहिनोई भी मर गया ! आज वहिनोई के घर पुत्र का जन्म हुआ तो चेटक के घर भी पुत्र का जन्म हुआ ! भाणेज को जन्म लेते देर नहीं हुई कि उसने ऐसी वात कही, मानों कोई सिद्ध पुरुष अपने दिव्य ज्ञान में देखकर भविष्य कह रहा हो !

यह सब सोच कर वह चकित और विस्मित हो रहा था। वह घर पर आया वड़ी उत्कंठा लेकर ! इस गुह्य रहस्य को वह जानना चाहता था। उलझी पहेली को सुलझाना चाहता था। मगर उसके सुलझने में देरी नहीं लगी।

ज्यों ही उसने घर में प्रवेश किया और नवजात वालक की दृष्टि उस पर पड़ी त्यों ही वालक ने पूछा—मामा, लौट आये ?

मामा—हाँ, आ गया हूँ। पर यह तो वता कि तुझे इन सब बातों का पता कैसे चला ?

वालक—मामा, सुनो। जिस चेटक से प्रश्न पूछने के लिए तुम आए हो, वही चेटक मैं हूँ। मर कर तुम्हारे भानेज के रूप में जन्मा हूँ और तुम्हारा वहिनोई चेटक की पत्नी के उदर से उत्पन्न हुआ है। मामा, चेटक के वशीभूत एक देव था। वही तुमसे यह वातचीत कर रहा है। मैं इस सद्यः प्रसूत शिशु के गले पर बैठ कर उत्तर दे रहा हूँ। चेटक जब मरने लगा तो उसने कहा—आगत व्यक्ति के प्रश्न का उत्तर कौन देगा ? तव मैं ने उसके सामने प्रतिज्ञा की थी कि मैं उत्तर दूंगा। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यही है कि चेटक

ने चार रुपया साधर्मी भाई के लिए खर्च किये तो चार करोड़ का धन पाया। इसके विपरीत सेठ ने कुछ भी दान नहीं किया तो मेहतर के घर जन्म लिया और दरिद्र अवस्था का सामना करना पड़ा।

उज्जैन से आने वाला सोचता है—मेरी माता ने जो कुछ भी कहा था, सत्य ही कहा था। उनका कथन बहुत मर्म भरा है। जीवन के लिए वह महत्त्वपूर्ण सत्य है। मैं करोड़पति होकर कुछ नहीं करूंगा तो मेरी भी ऐसी ही दशा होगी, जैसी मेरे बहिनोई की हुई।

आखिर अपनी बहिन से विदाई लेकर वह वापिस उज्जैन आ गया। कुछ समय के पश्चात् उज्जैन में वही मुनिराज फिर पधारे जिन्होंने उसे चेटक के पास जाने और उससे उत्तर पाने का सुझाव दिया था। वह लड़का, जो अब सेठ बन चुका था, पुनः मुनिराज की सेवा में उपस्थित हुआ और कल्याणकारी बोध देने के लिए उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने लगा। उसनें कहा—महामुनीन्द्र! आपने अपरिमित अनुग्रह करके इस दास की दृष्टि खोल दी। मुझे तो प्रत्यक्ष बोध प्राप्त हुआ है, उसने मेरे जीवन की दिशा परिवर्त्तित कर दी है। गुरुदेव! आपने मेरे अज्ञान-अन्धकार का निवारण कर दिया है।

मुनिराज तो 'समो निंदापसंसासु' के प्रत्यक्ष उदाहरण थे। अपनी प्रशंसा से उन्हें किंचित् भी प्रसन्नता न हुई। वह ज्यों के त्यों गंभीर भाव में स्थित रहे और बोले—सेठ, सुनो—

जीवन सफल बनाना हो तो धर्म करो। टेर॥
सब तन में है नर-तन ताजा, स्वर्ग मोक्ष का यह दरवाजा।
सुर नर मुनि बखाना, प्यारे धर्म करो ॥१॥

भाइयो, सुना आपने कि उन मुनिराज ने क्या कहा ? वह कहते हैं—हे मनुष्यो ! यदि इस जीवन को सार्थक करना चाहते हो तो धर्म का आचरण करो। संसार में अगणित प्रकार के शरीर हैं, किन्तु उन सब शरीरों में मनुष्य का शरीर ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इसकी उत्कृष्टता का कारण यही है कि यह शरीर स्वर्ग और मोक्ष का द्वार है—साधन है। आज तक जितने जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है, सब ने मनुष्यशरीर से ही किया है। भविष्य में जिन्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी, इसी शरीर से होगी। मनुष्यशरीर की प्राप्ति के विना आत्मा का परम और चरम कल्याण कदापि नहीं हो सकता।

तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, वलदेव और वासुदेव वगैरह संसार में उत्तम समझे जाने वाले महापुरुष भी मानव देह में ही प्रकट होते हैं। कभी सुना है आपने कि कोई पशु-पक्षी इन महान् पदवियों का धारक हुआ ? नहीं। ऐसा नहीं होता है।

मनुष्य-शरीर में बुद्धि का जो विशिष्ट विकास हो सकता है, वह किसी भी अन्य शरीर में नहीं हो सकता। मनुष्य मननशील प्राणी है। वह अपने हित-अहित का, अपने भविष्य के मंगल-अमंगल का जितना गम्भीर विचार कर सकता है, अन्य प्राणी नहीं कर सकते।

मनुष्यों को ही सुस्पष्ट वाचा-शक्ति प्राप्त होती है। वह अपनी मनोभावनाओं को दूसरे के समक्ष प्रकट कर सकता है। दूसरे की वाणी से लाभ उठा सकता है। वास्तव में मनुष्य को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, किसी भी धरातल के दूसरे प्राणी को प्राप्त नहीं है।

यह तो चित्र का एक बाजू है। मनुष्य शरीर की योग्यता का दिग्दर्शन है। अगर मनुष्य शरीर पाकर किसी ने अपनी योग्यता से लाभ न उठाया; बल्कि आत्मा के अमंगल में ही अपनी शक्तियों का व्यय किया तो यही वरदान अभिशाप के रूप में भी परिणत हो सकता है। अतएव यह शरीर श्रेष्ठ तभी माना जायगा जब वह धर्म का आचरण करे। धर्म का आचरण न किया तो नर शरीर पाना बेकार हो गया। कहा है—

मानव श्रेष्ठ धर्म से माना, धर्महीन नर पशु समाना।
अपना फर्ज बजाना हो तो धर्म करो ॥ प्यारे० ॥

भाइयो! धर्म के आचरण की दृष्टि से ही यह शरीर श्रेष्ठ माना गया है। इस शरीर से धर्म न किया गया तो यह बेकार है। इसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है।

हस्ती दंत के खिलौने जगत के आवे काम,
बाघों का बाघंबर शिवशंकर चित्त लाएगो।
मृगन की खाल को बिछावत हैं जोगीराज,
वृषभ के चर्म कछु अन्न को निपजाएगो।
करैले की खाल में होत है सुगन्ध त्यार,
बकरे की खाल कछु पानी भर मिलाएगो।
सांभर के सटके तो बांधत हैं सिपाही लोग,
गेंडे की ढाल राजा राणा मन लाएगो।
नेकी और बदी दो ही संग चले मयाराम,
पर मनुष्य की खाल कछु काम नहीं आएगो ॥

बोलो, मनुष्य के शरीर की कौन-सी वस्तु काम आती है ? पशुओं के शरीर की तो प्रत्येक वस्तु काम आ जाती है। बेचारा पशु खाता क्या है ? घास-पात। और मनुष्य के खाद्य पदार्थों की तो गणना भी नहीं की जा सकती। तरह-तरह की मिठाइयाँ, खटाइयाँ, नमकीन और न जाने क्या-क्या खा जाता है ! फिर भी पशु का गोबर काम आता है। गोबर के लिए औरतें लड़ती और झगड़ती हैं। मगर मनुष्य का मल कितना अशुचि है ? मनुष्य किसी के द्वार पर मलोत्सर्ग करना चाहे तो कोई करने देगा ? अजी, डंडा तान कर कपाल क्रिया करने को तैयार हो जाएगा। पशुओं के केश भी काम में आते हैं। मगर महिलाओं के लम्बे-लम्बे पशुओं की पूंछ से भी लम्बे केश किस दिन क्या काम आए हैं ? तात्पर्य यह है कि पशुओं के शरीर के अवयव तो फिर भी काम आ जाते हैं, किन्तु धर्म का आचरण न किया तो मनुष्य का शरीर एकदम ही निरर्थक है। कहा है—

> आहारनिद्राभयमैथुनञ्च,
>
> सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
>
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषः,
>
> धर्मेण हीन पशुभिः समानः ॥

अर्थात्—आहार, निद्रा, भय और कामभोग का सेवन, यह चार बातें पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से पाई जाती हैं। परन्तु धर्म ही मनुष्य में अधिक है। अतएव जिस मनुष्य में धर्म न हो, वह पशु के समान ही है; क्योंकि उसमें मनुष्य की विशेषता—धर्म—नहीं है।

भाइयो ! मनुष्यजीवन की कृतार्थता तो प्रभु का भजन करने में आत्मा-परमात्मा का स्वरूप समझ कर परमात्म-पद की प्राप्ति करने में तथा जगत् को सन्मार्ग दिखाकर उसका वास्तविक कल्याण करने में ही है। जो लोग भगवद्भजन के अमृत का परित्याग करके विषय रूपी विष का सेवन कर रहे हैं, वे अपने जीवन को निरर्थक ही नहीं, दुरर्थक बना रहे हैं। वे इस अनमोल अवसर को पाकर के अपने पतन के लिए गड्हा खोद रहे हैं।

विषय-कषाय बीच भटकाना, अमृत छोड़ जहर को खाना।
जन्म फेर नहीं पाना हो तो धर्म करो ॥ प्यारे० ॥
मात-पिता कुडम्ब सुत दारा, करे प्रीति स्वार्थवश सारा।
इनमें क्यों ललचाना, प्यारे धर्म करो ॥ प्यारे० ॥

माता, पिता, पुत्र आदि सभी स्वार्थ के संगे हैं। अगर इनका स्वार्थ सिद्ध न हुआ, उन्हें सन्तोष न हुआ तो बहिन भाई को, भाई भाई को, पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, पति पत्नी को और पत्नी पति को गालियाँ देने से नहीं चूकती। इसलिए हे भोले जीव ! तू इन्हें छोड़ और सारे विश्व के प्राणियों को समान समझ कर अपने जीवन की सफलता की ओर कदम रख।

चौथमल रहा साफ सुनाई, सुरदुर्लभ नरतन को पाई।
स्वर्ग मोक्ष में जाना हो तो धर्म करो ॥ प्यारे० ॥

भाइयो ! हमारे पीछे कोई बेटा-बेटी नहीं है। घर-द्वार का भी त्याग करके हमने अकिंचनता का व्रत अंगीकार किया है। अतएव हमें तुमसे कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना। हम लाग-लपेट की बात नहीं कहेंगे। ठकुरसुहाती कहने का हमारा ध्येय नहीं है। अल-

वक्ता, तुम्हारे कल्याण की बात कहेंगे। सौ बात की एक बात यह है कि अगर तुम सुख चाहते हो, स्वर्ग के उत्कृष्ट सुख भोगना चाहते हो तो पुण्य करो; अगर मोक्ष चाहते हो तो धर्म करो।

भाइयो ! इस शरीर से कुछ न कुछ करना चाहिए। देखो, राजा संयती ने मुनि महाराज का उपदेश सुना तो उसे ज्ञान की उपलब्धि हो गई। वह बोला—गुरुदेव ! मेरे अन्तःकरण में एक विचार पुनः पुनः उत्पन्न होकर चिन्ता उत्पन्न कर रहा है। उस विचार के कारण मेरी आत्मा काँप रही है। मैं सोचता हूँ—मेरा जीवन पाप ही पाप में व्यतीत हुआ है। मेरे हाथ खून से लथपथ हैं। मैंने करुणाहीन होकर न जाने कितने निरपराध जीवों के प्राणों को लूटा है ! अनेक दौड़ते-भागते और किलोलें करते हुए पशुओं को सदा के लिए स्पन्दनहीन बना दिया है। मेरे पापों की कोई सीमा नहीं दिखाई देती। इन पापों का प्रतिकार किस प्रकार होगा ? मेरी जिंदगी अल्प ही अवशेष रही है। मैं जो थोड़ा सा धर्म का आचरण करूँगा उससे मेरे महान् पातकों का विनाश कैसे होगा ? गुरुदेव, मेरे इस भय के प्रतीकार का कोई मार्ग है ?

मुनिराज ने गंभीर मुखमुद्रा से कहा—राजन् ! अगर तुम्हारे अन्तःकरण में कृत पापों के लिए पश्चात्ताप की अग्नि प्रज्वलित हो चुकी है, अगर तुम्हारा हृदय पापों की भर्त्सना कर रहा है, अगर तुम्हारे चित्त में पुनः पाप न करने का प्रबल संकल्प देवदूत की तरह जागृत हो गया है, तुम्हारे मन में से हिंसा की राक्षसी वृत्ति समूल विनष्ट हो गई है, अगर तुम्हारी अन्तरात्मा में प्रशस्त वृत्तियाँ उद्भूत हो उठी हैं, अगर तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन सम्यग्ज्ञान के सौम्य आलोक से जगमगा उठा है, यदि तुम्हारी भावनाओं की दिशा बदली है और तुमने आगे के लिए धर्म एवं नीति के पथ पर

ही चलने की प्रतिज्ञा करली है, तो भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। जानते हो घास की गंजी कितनी ऊंची और कितनी विशाल दिखाई देती है? परन्तु उसे भस्म करने के लिए पहाड़ के बराबर आग की आवश्यकता नहीं होती। दियासलाई की एक ही सींक सारी ढेरी को क्षण भर में राख बना देती है। एक ही सुलगती चिनगारी क्षण भर में घास के पहाड़ को अस्तित्वहीन बना देती है।

इसी प्रकार हे राजन्! सम्यग्ज्ञानपूर्वक की हुई थोड़ी तपश्चर्या भी समस्त पापों का प्रणाश करने में समर्थ होती है।

गुरुदेव के यह आश्वासन वचन सुनकर संयती राजा को धैर्य बँधा और उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ तपश्चरण करने का संकल्प कर लिया। राजपाट का परित्याग करके उसने मुनिवृत्ति अंगीकार की और आत्मा का कल्याण किया।

भाइयो! आप भी इसी प्रकार उद्यत हो जाओ। अन्तरतर में सम्यग्ज्ञान की दिव्य ज्योति जगाओ और तपश्चर्या की अग्नि में अपने पातक पुंज को भस्मीभूत करो। यही इस जीवन की सार्थकता है। ऐसा करोगे तो आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

अनित्यता

स्तुतिः—
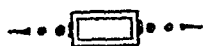
बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ !
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

देवों द्वारा पूजित सिंहासन वाले प्रभो ! मैं आपकी स्तुति करने के लिए तैयार तो हो गया हूँ, किन्तु मुझ में स्तुति करने के योग्य बुद्धि नहीं है। बुद्धि के अभाव में भी स्तुति करने के लिए तैयार हो जाना मेरी निर्लज्जता है। फिर भी जैसे बालक जल में

चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देख कर उसे पकड़ने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार मैं भी बालचेष्टा कर रहा हूं। बालक चन्द्रमा को पकड़ नहीं सकता, फिर भी पकड़ने की चेष्टा करता ही है, वह ऐसा किये बिना रह नहीं सकता; इसी तरह आपके गुणों की स्तुति मुझ से हो नहीं सकती, फिर भी आपके गुणों में मेरा जो अनुराग है, वह अनुराग मुझे स्तुति करने की प्रेरणा करता है। उस प्रेरणा को मैं दबा नहीं सकता !

प्रभो ! आपके गुण सागर के जल के समान अपरिमित हैं और मेरी बुद्धि गागर के समान परिमित है। मैं सागर को गागर में भरना चाहता हूँ। किन्तु सागर गागर में समा नहीं सकता, इसी प्रकार आपके अनन्त गुण मेरी बुद्धि में नहीं समा सकते। फिर भी मैं आपके गुणों की स्तुति करने की धृष्टता कर रहा हूँ। यह मेरी बालचेष्टा है। तथापि आपकी स्तुति किये बिना रहा नहीं जाता !

ऐसे अनन्त गुणधारी भगवान् ऋषभदेव हैं। उनको ही मेरा बारबार नमस्कार है !

भाइयो ! भगवान् की स्तुति कौन कर सकता है ? वही मनुष्य भगवान् की स्तुति या महिमा करेगा जो अपनी आत्मा का कल्याण चाहता होगा और अपनी आत्मा को निष्कलंक, निर्विकार निरामय, निरंजन और निष्पाप बना कर ऊँचे स्थान पर ले जाना चाहता होगा। जो ऐसा न चाहेगा, उसके मुँह से भगवान् का नाम निकलना ही संभव नहीं है ! उसके हृदय में ऐसी पावन प्रेरणा ही उत्पन्न न होगी।

अनादिकाल से भव-भ्रमण करता हुआ संसारी जीव प्रतिक्षण नवीन-नवीन कर्मों का बन्धन कर रहा है। इन कर्मों के प्रभाव से वह अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित हो रहा है। उसकी चेतना मलीन हो रही है। चेतना की मलीनता के कारण उसकी रुचि भी विकृत हो गई है। अतएव वह इन्द्रिय-सुख की ओर आकर्षित होता है। इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिए ही उद्यत रहता है। संसारी जीव को असली सुख के स्वरूप का पता नहीं है। उसे ज्ञात नहीं है कि सुख आत्मा का स्वभाव है। इस आत्मा में अनन्त, असीम और अव्याबाध सुख का महान् सागर लहरा रहा है। फिर भी जीव उसे पहचान नहीं पाता। अतएव वह तुच्छ इन्द्रिय-सुख की ओर झुका है। असली सुख उसकी कल्पना से बाहर है। वह नकली, क्षणस्थायी और परिणाम में दुःख देने वाले विषयसुख की प्राप्ति के लिए ही रात-दिन उद्योगशील रहता है।

जैसा अबोध बालक रबर के बने स्तन को ही स्तन समझ कर चूसता है और सन्तुष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अनन्त आत्मिक आनन्द से अनभिज्ञ यह अज्ञान प्राणी सांसारिक सुख का आस्वादन करके ही सन्तुष्ट हो जाता है। वास्तविक सुख की कल्पना ही उसे नहीं होती। अनादिकालीन अभ्यास के कारण जीव की धारणा और विचारणा विपरीत हो रही है। अतएव जो सुलभ है, वही उसे दुर्लभ जान पड़ता है। जो उसके लिए सहज है, जिसकी प्राप्ति के लिए किसी पर निर्भर नहीं होना पड़ता, जो एक बार प्राप्त होकर फिर कभी छिन नहीं सकता, उस सुख की तो वह उपेक्षा करता है और जिसके लिए अनन्त यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं, जिसको पाने से पहले असीम कष्ट भोगने पड़ते हैं, पा लेने पर अनेक चिन्ताओं का पात्र बनना पड़ता है और आगे भी अनेक दुःखों का अनुभव करना पड़ता है, उसी विषयसुख की प्राप्ति के

लिए तड़फता रहता है ! संसारी जीव की यह दशा देख देख कर ज्ञानीजनों के अन्तःकरण में अनन्त अनुकम्पा का भाव जागृत होता है। वे ऐसे बाल जीवों पर तरस खाकर उन्हें सन्मार्ग पर आरूढ़ होने की प्रेरणा करते हैं। कहते हैं—

विसृज विसृज मोहं, विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।

अरे जीव ! मोह—मूढ़ता को छोड़, छोड़ ! आत्मतत्त्व को पहचान, पहचान ! मगर अज्ञान के प्रभाव से प्रभावित जीव इस कल्याणमयी वाणी को श्रवण नहीं करता ! सुनकर भी अनसुनी कर देता है।

भाइयो ! ऊपर चढ़ने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, नीचे गिरना तो आसान ही है। अच्छाई सीखना कठिन है, बुराई अपने आप ही आ जाती है। इन बहिनों से कहा जाय कि सामायिक प्रतिक्रमण करना सीखो, तब यह कहती हैं—महाराज क्या करें ! हमें याद ही नहीं होता। मगर तरह-तरह के गीत कैसे याद हो जाते हैं ! उन्हें सीखने के लिए कौन-से स्कूल में तालीम लेने को जाती हैं ? उन गीतों को न कोई याद कराने बैठता है, न उसकी पुस्तक छपी हुई है ! फिर भी कैसे वह याद हो जाते हैं ?

सच बात तो यह है कि जिसका अच्छा होने वाला होता है, उसी के मुँह से परमात्मा का नाम निकलता है। पुण्यशाली जीव ही प्रभु का स्तवन, गुणगान और ध्यान करते हैं।

देश के विभिन्न भागों में और खास तौर से इस प्रान्त में एक बड़ी बुरी बात देखी जाती है। कई लोग ऐसे होते हैं कि बात-बात के पीछे गाली बोलते हैं, जैसे एक-एक कौर के पीछे चटनी

खाते हों, दिन भर में उनके मुख से सैकड़ों बार गाली निकलती है, परन्तु परमात्मा नाम एक बार भी नहीं निकलता !

विचार करना चाहिए कि आपने मनुष्य के रूप में जन्म पाया है सो उसकी सार्थकता क्या है ? जन्म लेने से पहले नौ महीने तक माता के गर्भ में रहा। वहाँ दुस्सह वेदनाएँ भुगतनी पड़ीं। उन वेदनाओं से व्यथित होकर कहता था कि—भगवान् इस भयानक काल-कोठरी में से बाहर निकल जाऊँ तो तुझे अवश्य याद करूँगा। किन्तु पेट के बाहर आते ही निगोड़ा भूल गया और रोना शुरू कर दिया और फिर छोकरों और छोकरियों के साथ खेलकूद में मस्त हो गया ! खेलते-कूदते बड़ा हुआ नौजवान हुआ, तो विषयभोगों के लिए तड़फड़ाने लगा। विवाह किया और पत्नी के अनुराग में डूब गया ! फिर बाल-बच्चों के राग में डूब गया। धन कमाने के लिए हाय-हाय करने लगा। रात-दिन आकुल-व्याकुल बना रहा ! इस तरह दुनिया के झगड़ों में ही पड़ा रहा और जीवन बर्बाद कर दिया ! किन्तु इसे भान नहीं है कि यह मनुष्यजीवन कितना दुर्लभ है ! कितनी कठिनाई से, कितने तीव्र पुण्योदय से इसकी प्राप्ति हुई है ! चौरासी लक्ष जीवयोनियों में भटकते भटकते कितना लम्बा काल व्यतीत हो गया है ! कभी कहीं और कभी कहीं, कभी नरक में, कभी निगोद में, कभी एकेन्द्रिय पर्याय में, कभी द्वीन्द्रिय पर्याय में, और कभी त्रीन्द्रिय आदि पर्यायों में जन्म-मरण करते-करते कितनी कठिनाई से मानवभव मिला है ! जिस मनुष्य पर्याय को पाने के लिए स्वर्ग के देवता भी तरसते हैं, जिस भव में आत्मा के अनन्त कल्याण का द्वार खोला जा सकता है, जिस जीवन में साधना करके अनादि कालीन संसार अटवी के परिभ्रमण का अन्त किया जा सकता है, जिसके निमित्त से असीम आत्मिक आनन्द का अनुभव किया जा सकता है और जो जन्म त्रिलोकी-

नाथ बनने में सहायक हो सकता है; जिस जीवन को पाकर आत्मा परमात्मा के परमोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है; जिस पर्याय को पाकर प्राणी अपने अनन्त ऐश्वर्य की दिव्य ज्योति का परिपूर्ण प्रसार कर अजर-अमर ज्योति स्वरूप बन सकता है और अनन्त अव्याबाध आनन्द में सदा काल निमग्न रहने की योग्यता प्राप्त कर सकता है; उसी अपरिमित महिमा वाले मानव-जीवन को पाकर यह जीव वृथा नष्ट कर देता है !

मनुष्य मूल्यवान जीवन को प्राप्त करके उसके महत्त्व को भूल जाता है, यह बड़े ही खेद और आश्चर्य की बात है ! और-और बातों में तो वह बड़ी लम्बी लम्बी बातें सोचता है, आगे की विचारता है, किन्तु अपने जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी विचार नहीं करता ! उसे खयाल नहीं आता कि मकान तो सौ दो सौ पाँच सौ वर्ष तक भी टिक सकता है, किन्तु यह शरीर कब तक टिक सकेगा ? यह शरीर अल्पकालीन है, क्षणभंगुर है किसी भी समय स्वल्प-सा आघात लगते ही समाप्त हो सकता है ! इसे रोज-रोज बादामों का हलुवा खिलाओ, भस्में खिलाओ, औषधियाँ खिलाओ, सब प्रकार का आराम पहुंचाओ, लाख यत्न करो कि यह सदा बना रहे; मगर एक समय आएगा कि यह नहीं रहेगा। जाएगा, अवश्य जाएगा। आज तक इस पृथ्वी पर अगणित ऐश्वर्यशाली सम्राट् आए, बड़े-बड़े धनकुबेर सेठ साहूकार आए, उन्होंने संसार का उत्तम से उत्तम सुख भोगा शरीर को खूब आराम दिया, विश्राम दिया, मगर आज देखते हैं तो उनमें से एक भी नहीं बचा ! सब यथासमय चल दिये ! एक दिन सब के शरीर ने जवाब दे दिया ! वह लाचार हो गए, विवश हो गए, दीन-मलीन हो गए ! शरीर के वियोग की व्यथा से व्यथित हो गए, परन्तु शरीर नहीं टिका नहीं टिका !

शरीर को अमर बनाने के लिए न मालूम कितने मनुष्यों ने कितने उपाय किये हैं, किन्तु इसका स्वभाव ही अमर होने का नहीं है! जरा विचार करके देखो तो सही कि यह शरीर कितनी नाजुक हालत में रहा हुआ है! हृदय की धड़कन पर इसकी जिंदगी निर्भर है! हल्का सा आघात लगा और धड़कन बंद हो गई! धड़कन बन्द हो गई कि सब खेल खत्म हो गया! कई लोग मजे में बैठे-बैठे बातें करते-करते सहसा चल देते हैं! कई कुर्सी पर बैठे-बैठे लुढ़क जाते हैं! कई सभा में व्याख्यान देते-देते ठंडे पड़ जाते हैं! दो मिनिट भी नहीं लगते और जीवनलीला समाप्त हो जाती है!

भाइयो! यह कोई कल्पना की चीज नहीं है, परोक्ष बात नहीं है। प्रतिदिन ऐसी घटनाएँ घट रही हैं और उनके समाचार आप तक भी पहुँचते रहते हैं। फिर भी आपको होश नहीं है! आपको अपने शरीर के संबंध में कोई विचार नहीं आता! संभवतः आप यह समझते हैं कि मरने के लिए दूसरे हैं और आप अजर-अमर होकर आये हैं! इससे बढ़ कर आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है कि मनुष्यों को मृत्यु का शिकार होते देख कर भी प्रत्येक मनुष्य अपने आपको अमर समझता है।

सच तो यह है कि मनुष्य की बुद्धि पर पर्दा पड़ा है। मोह से आवृत मनुष्य प्रथम तो समीचीन तत्त्व का विचार ही नहीं करता। कदाचित् विचार करता है तो क्षण भर के लिए ही करता है। उसका विचार स्थिर नहीं रहता। मोह की आँधी में उसके समीचीन विचार उड़ जाते हैं और वह फिर ज्यों का त्यों बन जाता है! मोह के अनादिकालीन और प्रबलतर संस्कार मनुष्य को सही राह पर नहीं चलने देते, यहाँ तक कि सही राह का विचार भी नहीं करने देते!

शरीर क्षणभंगुर तो है ही, साथ ही इसका स्वरूप भी बड़ा विचित्र है! संसार में जो वस्तुएँ अपावन से अपावन समझी जाती हैं, उन्हीं का यह पिण्ड है और उन्हीं से इसकी उत्पत्ति होती है! यह मनुष्य देह पशुओं के देह से भी गई गुजरी और घृणास्पद है। जानवर कभी चूर्ण की फाकी नहीं लेते और न बुखार की दवा ही लेते हैं। किन्तु फिर भी तन्दुरुस्त रहते हैं और मनुष्य माल खाते खाते भी बीमार हो जाता है। जरा शरीर की अनित्यता असारता और अशुचिता का विचार तो करो।

इस तन का क्या विश्वासा,
जैसे पाणी बीच बतासाजी ॥ टेर ॥

चाम नसां हाड़ मांस जानो, शुक्र रुद्र से पिंड रचायोजी।
मल मूत्र कफ पित्त का वासा ॥ १ ॥

चर्म-थैली रोग को घर है, फिर मृत्यु जरा को डर है जी।
नहिं शुचि को अंश है मासा ॥ २ ॥

कंकू चन्दन की खोर कढावे, नीलम के कंठे झुकावेजी।
है वहाँ तक जहाँ तक आसा ॥ ३ ॥

जैसा आक ईश का माचा, कांच की शीशी कुंभ काचाजी।
ऐसा समझ तन तमाशा ॥ ४ ॥

ऐसी अशुचि भावना भाई, सनत्कुमार चक्रवर्त्ती राईजी।
कहे चौथमल खुलासा ॥ ५ ॥

भाइयो! इस शरीर का भरोसा मत करो। जैसे पानी में शक्कर का बना बतासा डाला जाय तो वह अधिक समय तक नहीं

रह सकता, किन्तु थोड़ी ही देर में गल जाता है इसी प्रकार यह शरीर किंचित् काल में गल कर मिट जाता है। पानी में बतासा डाला कि उसी क्षण से उसका गलना आरम्भ हो जाता है, इसी प्रकार इस शरीर का भी क्षण-क्षण में गलन हो रहा है।

शरीर की बनावट पर विचार करो। इसके भीतर कैसी कैसी अपवित्र वस्तुएँ भरी पड़ी हैं! मांस, रक्त आदि सात धातुओं से यह बना है। गनीमत यही है कि इस मांस रुधिर के लोथ पर प्रकृति ने चमड़ी की चादर चारों तरफ फैला दी है, जिससे इसका असली रूप ढँक गया है! यह सुन्दर सा दिखाई पड़ता है। अगर चमड़ी की यह चादर न होती तो इस शरीर का क्या हाल होता? कौवे और गिद्ध इसे नौंच-नौंच कर खा जाते और मनुष्य को इसकी रक्षा करना भी कठिन हो जाता!

थोड़ी देर के लिए कल्पना करो—आपके शरीर पर चमड़ी नहीं है और वह यों ही उघाड़ा है। अब आप क्या करेंगे? कितनी देर तक इसे सँभाल सकेंगे? एक घंटे भर में ही आप परेशान हो जाएँगे! थक जाएँगे, ऊब जाएँगे! सोचने लगेंगे कि इसका खात्मा हो जाना ही अच्छा है। इस आपत्ति के घर को कहाँ तक सँभाले और सँभाल कर भी क्या करे!

संसार में बड़ी से बड़ी गंदगी मल, मूत्र, कफ रेंट और वमन आदि की समझी जाती है। मगर यह गंदी वस्तुएँ कहाँ से आती है? न तो आसमान से बरसती हैं और न किसी खान में से निकलती हैं। इनकी उत्पत्ति का स्थान तो आपका प्रेमपात्र यह शरीर ही है! सुस्वादु, सुमधुर और सुगंधित अन्न-पान उदर में डाल लीजिए; परन्तु शरीर का संसर्ग पाते ही वह घृणास्पद बन जाएगा! मल-मूत्र के रूप में परिणत हो जाएगा! इस प्रकार

अशुचि का यह पिण्ड शुचि से शुचि वस्तुओं को भी पल भर में अशुचि बना डालता है !

इतने पर भी यह शरीर रोगों का घर है। कहा भी है:—

शरीरं व्याधिमन्दिरम् ।

अर्थात्—यह शरीर नाना प्रकार की बीमारियों का घर है।

कदाचित् किसी मनुष्य के प्रबल सातावेदनीय कर्म का उदय हुआ और बीमारी न हुई तो भी शरीर सदा टिक नहीं सकता। वृद्धावस्था और मृत्यु अनिवार्य है। इन्हें रोकना किसी की सामर्थ्य में नहीं है। मनुष्य क्या, स्वर्गलोक का राजा और देवों का अधिपति इन्द्र भी मौत से न बच सकता है और न किसी को बचा सकता है। जो स्वयं मौत के मुँह में पड़ा है, वह दूसरों को मौत से कैसे बचा सकता है ?

भाइयो ! तुम शरीर का शृंगार करते हो, सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण करके फूले नहीं समाते हो, शरीर पर कुम्कुम लगाते हो, चंदन लगाकर इसे सुगंधित बनाने की कोशिश करते हो, और गोरी चमड़ी पाकर कितने प्रसन्न होते हो ! नीलम का कंठा गले में पहन कर ठसक दिखलाते हो। समझते हो कि संसार में जो हूँ सो मैं ही हूँ ! मैं श्रीमन्त हूँ, सुन्दर हूँ, सबल हूं, मगर तुम्हारा यह अभिमान कितने दिनों का है ? जब तक श्वासोच्छ्वास जारी है, तब तक ही यह ठस्सा भले चल जाय ! श्वास समाप्त होने पर तुम्हारे शरीर को आग की लपटों के सिपुर्द कर दिया जायगा ! यह राख बन कर उड़ता फिरेगा ! अरे ! यह शरीर तो एक तमाशा है। आक की लकड़ी का पलंग कितनी देर तक ठहर

सकता है? यह शरीर तो उससे भी अधिक अस्थायी है। काच की शीशी हाथ से छूटी नहीं कि टुकड़े-टुकड़े हो जाती है! कच्ची मिट्टी का घड़ा कितने दिनों तक चलता है? बस, यही हालत आपके शरीर की है।

सनत्कुमार चक्रवर्त्ती के शरीर सौन्दर्य की तुलना में तुम्हारा सौन्दर्य किस गिनती में है? मगर उन्होंने इस शरीर की निस्सारता और अपवित्रता पर विचार किया। उन्होंने अशुचि भावना भाई। तभी उनका कल्याण हुआ। उन्हें शरीर की वास्तविक स्थिति का पता चला! इसी प्रकार तुम वास्तविकता का विचार करो।

मृगापुत्र सुग्रीव नगर के राजकुमार थे। एक बार वह अपने महल में बैठे-बैठे नगरी की सुन्दरता का अवलोकन कर रहे थे कि अचानक ही उनकी दृष्टि एक मुनिराज पर पड़ गई। टकटकी लगाकर वह मुनिराज को देखने लगे और सोचने लगे कि—मैंने ऐसा रूप कभी पहले भी देखा है! आखिर उन्हें जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हो गई। चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह उसी समय संयम धारण करने का संकल्प करके अपने माता पिता के पास पहुँचे और बोले—मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। यह संसार तो दुःखों का घर है! और यह शरीर—

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं॥
असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे॥

माणुसत्ते असारम्मि, वाहीरोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥
—उत्तराध्ययन, अ० १६.

मृगापुत्र राजकुमार कहते हैं—यह शरीर अनित्य है तथा स्वयं अशुचि अर्थात् अपवित्र भी है। अपवित्र ही नहीं, अपवित्र वस्तुओं से उत्पन्न हुआ है और अपवित्र वस्तुओं को उत्पन्न भी करता है। यह शरीर ऐसी वस्तुओं से बना है कि उनका अगर दाग लग जाय तो हिन्दू राम का नाम और मुसलमान नमाज नहीं पढ़ते। किसी की किसी से लड़ाई हो जाती है तो वह कहता है—किसके मूत्र से पैदा हुआ है? ऐसा कोई नहीं कहता कि किसके कलाकन्द या किसकी रवड़ी से पैदा हुआ है? वास्तव में इस शरीर की उत्पत्ति शुक्र और शोणित से हुई है। फिर यह शरीर अशाश्वत है और दुःखों तथा क्लेशों का भाजन है।

मृगापुत्र कहते हैं—इस अशाश्वत शरीर में मुझे प्रीति नहीं रही है। जल के बुलवुले के समान पलप्रणाशी यह काया देर-सवेर छोड़नी तो पड़ेगी ही। इस कारण विविध व्यक्तियों और रोगों के घर, जरा और मरण से ग्रस्त तथा निस्सार मानवदेह में क्षण भर के लिए भी मुझे रति नहीं होती।

भाइयो! मृगापुत्र ने जो वात कही है, उसे आप सच मानते हैं अथवा नहीं? और यदि सच मानते हैं तो सिर्फ मृगापुत्र के लिए ही यह सत्य है या आपके लिए भी? मृगापुत्र का शरीर ही अशुचि अशुचिजनित, अशुचिजनक, अशाश्वत और असार था या आपका शरीर भी वैसा ही है? क्या कहते हो?

'सभी का शरीर ऐसा ही है।'

तो फिर क्यों शरीर के पीछे आत्मा के हित का नाश कर रहे हो ? क्यों शरीर को ही परमात्मा समझ कर इसी की अभ्यर्थना में लगे रहते हो ? भाइयो ! जैनशास्त्रों में जीव की उत्पत्ति का क्रम बहुत ही स्पष्ट, विस्तृत और विशद रूप से बतलाया गया है इस शरीर को त्याग कर आत्मा कहाँ जाता है ? जहाँ जाता है वहीं क्यों जाता है ? जाने के बाद नया शरीर कैसे बनता है ? पूर्वभव और पुनर्भव के बीच में कितना समय लगता है ? उत्पत्ति योग्य स्थान पर पहुँचने पर किस प्रकार नवीन शरीर का निर्माण होता है ? आदि आदि सभी प्रश्नों का युक्तिसंगत समाधान जैन साहित्य में बड़ा ही सुन्दर किया गया है। उसका यहाँ निवेचन नहीं किया जा सकता। उस निवेचन के लिए तो कई महीनों तक व्याख्यान करने की आवश्यकता है। परन्तु यहाँ थोड़ी-सी बातें बतला देना आवश्यक हैं।

इस जीव के साथ इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त दो सूक्ष्म शरीर भी लगे हुए हैं। उनके नाम हैं—तेजस और कार्मण। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर यहीं छूट जाता है किन्तु तेजस और कार्मण शरीर आत्मा के साथ लगे रहते हैं। कार्मण शरीर कृत कर्मों का समूह रूप है। उसके प्रभाव से जीव अन्यत्र जन्म लेने के लिए जाता है और अपने लिए पहले से निर्माण की हुई योनि में पहुँचता है उत्पत्ति स्थान तक जाने में उसे लम्बा समय नहीं लगता। ज्यादा से ज्यादा ३–४ समय में ही वह अपने गन्तव्य स्थान पर जा पहुँचता है। समय का अर्थ है—काल का सूक्ष्मतम अंश, इतना सूक्ष्म कि आँख का पलक गिराने में असंख्य समय हो जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जीव एक क्षण से भी पहले अपने उत्पत्ति स्थान तक पहुँच जाता है।

जीव जब गर्भ में आता है, तब छह बातें होती हैं—(१) आहारपर्याप्ति (२) शरीरपर्याप्ति (३) इन्द्रियपर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति (५) भाषापर्याप्ति और (६) मनःपर्याप्ति ।

जीव गर्भ में पहुँचते ही पिता के वीर्य और माता के रज को ग्रहण करता है—दोनों के सम्मिश्रण का आहार करता है। उस समय उसके मुँह नहीं होता है। प्रश्न हो सकता है कि अगर मुँह नहीं होता तो जीव आहार कैसे करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे तेल में भुजिए डालो तो वह चारों ओर से तेल पीकर मोटा हो जाता है। उसके मुँह नहीं होता फिर भी वह तेल का आहार ग्रहण करता है। इसी प्रकार जीव गर्भ में आकर रज-वीर्य का आहार करके शरीर बनता है। आहार ग्रहण करने की इस परिपूर्ण योग्यता को ही आहार पर्याप्ति कहा गया है। इस आहार से शरीर बनाता है। शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना और उसे शरीर के रूप में परिणत करने की पुरी योग्यता शरीरपर्याप्ति कहलाती है। साथ ही आँख, कान, नाक भी बनाने लगते हैं और श्वासोच्छ्वास भी बनता है। भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके, उन्हें भाषा के रूप में परिणत करके ध्वनि रूप में छोड़ने की शक्ति भी उस समय आ जाती है और मनोवर्गणा के पुद्गलों को अपना कर मन रूप में पलट कर उनके सहारे सोच-विचार करने की शक्ति भी आ जाती है। इन शक्तियों की पूर्णता यद्यपि क्रम से होती है, तथापि उसमें पौन घंटे से भी कम समय लगता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा आदि की शक्ति ही उस समय उत्पन्न होती है। जीव उस समय बोलने नहीं लगता है। क्रिया तो बाद में, धीरे-धीरे होती है।

कई अनजान लोग समझते हैं कि गर्भ के बाद पाँचवें महीने में जीव आता है। उनके इस कथन का आधार यह है कि उस समय गर्भस्थ जीव की हलन-चलन क्रिया स्पष्ट मालूम होने लगती है। परन्तु वास्तविक बात तो यही है कि जीव गर्भ रहते ही उत्पन्न हो जाता है। पहले जीव आता है और फिर शरीर बनता है। जीव के अभाव में शरीर का निर्माण हो ही नहीं सकता।

पहले कारीगर आता है, पीछे वह नींव लगाता है।

यह नहीं हो सकता कि पहले नींव लग जाय और फिर कारीगर आए! इसी प्रकार पहले जीव आता है, फिर शरीर बनता है।

गर्भ में नौ महीने तक जीव उलटा लटका रहता है और बहुत कष्ट पाता है। तब सोचता है- हे प्रभो! मैं बाहर निकल जाऊँ तो तुझे याद करूँगा! मगर बाहर निकल जाने के पश्चात् ईश्वर भजन तो भूल जाता है और शरीर को देख कर अभिमान करता है! मगर ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जिसे देख-देख कर तू अभिमान करता है, वह शरीर तो अशुचि से बना है! कहा भी है:—

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानाम्,
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ! गाढम्।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं,
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम्॥

यह शरीर चमड़ी से ढँका हुआ है, हाड़ों का ढांचा है, सड़ाँदभरे मलमूत्र रक्त मांस आदि से परिपूर्ण है, यमराज की दाढ़ों में दबा हुआ है, रोग रूपी साँपों का घर है। हे मूढ़ पुरुष! ऐसे

तुच्छ एवं निस्सार शरीर पर तू कैसे प्रीति करता है ?

कई लोग शौचधर्म के हिमायती होते हैं। कहते हैं, शरीर को पानी से शुचि कर लेंगे। परन्तु तत्त्वदर्शी कहते हैं:—

यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभिः ।
दूषयत्यपि तान्येव, शोध्यमानमपि क्षणम् ॥

कदाचित् इस अशुचिमय शरीर को समुद्र से शुद्ध किया जाय तो शरीर तो शुद्ध होगा नहीं, समुद्र का जल ही क्षण भर म अशुद्ध हो जाएगा ! ऐसी स्थिति है इस शरीर की !

कोई यह सोचे कि संसार में कस्तूरी, केसर, चन्दन आदि बहुत-से सुगंधित पदार्थ हैं। उनसे शरीर को शुद्ध और सुगंधित किया जा सकता है और उसकी दुर्गंध दूर की जा सकती है, परन्तुः—

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादि वस्तूनि ।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥

कपूर, कुंकुम, अगर, कस्तूरी, चन्दन आदि-आदि अच्छी वस्तुओं को भी मनुष्यों का यह शरीर मलीन बना देता है ! इन वस्तुओं के प्रयोग से शरीर निर्मल होने के बदले यही वस्तुएँ मलीन हो जाती हैं।

भाइयो ! इस शरीर को देखकर क्यों गर्व करते हो ? यह तो मांस, रुधिर, चर्म, मल-मूत्र आदि की थैली है और जानवरों के देह से भी निकम्मा है ! हाँ, इस शरीर को पाकर अगर परमात्मा का भजन किया जाय, संयम की साधना की जाय और धर्म का आचरण किया जाय तब यह शरीर सब से श्रेष्ठ है ! इसी औदारिक

शरीर से शाश्वत सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। अतएव इससे जितना आत्महित साधा जा सकता हो, उतना साध लेना चाहिए। यही ज्ञानियों का कथन और उपदेश है।

गेंद को ठोकर लगाई जाय तो कौन कह सकता है कि वह कहाँ जाएगी और कहाँ रुकेगी ? इसी प्रकार यदि धर्म का आचरण न किया तो क्या ठिकाना है कि आपकी आत्मा कहाँ किस योनि में उत्पन्न होगी ? किस स्थिति में रहेगी और कैसे-कैसे कष्ट भोगेगी ? अतएव विवेक के आन्तरिक नेत्र खोल कर देखो और परमात्मा का भजन कर लो। इस शरीर का कोई भरोसा नहीं है कि यह कब छूट जायगा ? यहाँ से बम्बई के लिए रवाना हुए और अहमदाबाद के स्टेशन पर ही नीलाम बोल गये, जहाँ लावारिश लाश समझकर भंगियों ने उठाकर कहीं पटक दिया और कोई जलाने वाला भी नहीं मिला ! क्या ऐसी घटना हो जाना असंभव है ? प्राण निकलते क्या देरी लगती है ? कहा है:—

> क्षणभंगुर है तेरी काया, मूरख इसमें क्यों ललचाया।
> ढलती फिरती बादल छाया, वीर प्रभु का सुमिरण कर,
> यह चोला है अनमोल ॥ १ ॥

भाइयो ! इस क्षणविनश्वर शरीर का कोई भरोसा नहीं है। फिर भी जवानी के मद में उन्मत्त हुए लोग इस तथ्य को, इस वज्र-सत्य को नहीं सोचते हैं। वे तो यही सोचते हैं कि मेरे मुकाबिले और कोई है ही नहीं, मरने के लिए दूसरे हैं; मैं तो अमर होकर आया हूँ ! किन्तु ज्ञानी कहते हैं—जीवो ! जरा सँभलो, सोचो और विचार करो:—

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ॥

—उत्तराध्ययन, अ. १३, गा. २२

भयानक अटवी में सिंह हिरण को पकड़ कर ले जाता है। तब उसके साथी-संगी अपनी-अपनी जान बचाने की ही चिन्ता करते हैं। उसे बचा लेने की शक्ति किसी में नहीं है। इसी प्रकार अन्त काल में जब मृत्यु आकर मनुष्य पर झपटती है तो माता, पिता, भाई बन्धु कोई भी सहायक नहीं होते। अकेले ही जीव को मौत का शिकार बनना पड़ता है! वह एकला ही अपने कर्मों के अनुसार परलोक जाता है।

भाइयो! सर्वज्ञ वीतराग देव ने जगत् के महान् मंगल का मार्ग दिखलाया है। उसी मार्ग का आज मुनिजन उपदेश कर रहे हैं। कहा है:—

ये मुनिराज महाराज बड़े उपकारी,
महाराज! ज्ञान देकर समझावेजी।
जो फूले सो कुमलाय, एकसा नहीं रहावेजी ॥टेक॥

साधु-मुनिराज आपके हक में सदा अच्छा करने वाले हैं। वे आपको ज्ञान देकर समझाते हैं। प्रभु के वे संदेशवाहक हैं। उनके उपदेश पर ध्यान दो और जगत् एवं जीवन की अनित्यता का विचार करके आत्मा के सच्चे कल्याण के पथ पर अग्रसर होओ।

चम्पा नगरी में एक बार करकंडू राजा था। वह बड़ा भोगी, यशस्वी, तेजस्वी, पराक्रमी और स्वरूपवान् था। उसके रहने के लिए सोने के महल थे। ऐसा वीर था कि शत्रुगण उसके नाम मात्र से घबराते थे। सब जागीरदार उसके अधीन थे। उसके अन्तःपुर में पुण्यशाली रानियाँ थीं और अनेक राजकुमार थे। तात्पर्य यह है कि पूर्वजन्म में वह ऐसी तपस्या करके आया था कि उसे सभी प्रकार के अनुकूल संयोग मिले। किसी वस्तु की कमी नहीं थी।

भाइयो ! तपस्या में कसर रह जाती है तो जीवन की सुखद सामग्री में भी कमी रह जाती है। राज्य ऐश्वर्य, धनसम्पत्ति आदि सभी कुछ मिल जाय तो लड़का गोदी लाना पड़ता है। लड़का हो जाय तो शरीर में कोई स्थायी बीमारी घर बना लेती है।

कल्पना करो—आज आपने चौदस का उपवास किया और यहाँ से कहीं बाहर दूसरे गाँव जाना पड़ा। वहाँ भोज हुआ और उसमें बादाम का हलुवा बना। आपको भोजन करने का आग्रह किया गया। आपके मुँह में लार आ गई। आप सोचने लगे–आज उपवास न किया होता तो अच्छा था !

इस प्रकार भूखे भी रहे, हलुवा से भी गये और क्रिया करके उसे निर्मल भी न रख सके ! तपस्या में कसर रह गई। भावना क्रिया का प्राण है। उसे विगाड़ लिया तो क्रिया निष्प्राण हो गई !

राजा करकण्डू ऐसी तपस्या करके आया था कि उसके जीवन में किसी प्रकार की कसर नहीं थी। सब प्रकार का ठाठ लग रहा था। इसीलिए मैं कहता हूँ कि मेरा कहना मानो। मैं जो कह रहा हूँ, अपने लाभ या कल्याण के लिए नहीं, तुम्हारे ही कल्याण के लिए कहता हूँ। अतएव जो कहता हूँ वही किये जाओ। अन्त में लाभ ही होगा।

इस विषय में एक उदाहरण लीजिए। एक सेठ जिस मुनीम को रखता था, उससे शर्त कर लेता था कि जब भोजन करके मैं दुकान पर पहुँच जाऊँ, तब तुम भोजन करने जाना। मुनीम इस शर्त को स्वीकार तो कर लेते थे, परन्तु आखिर वह उन्हें बहुत भारी पड़ती थी। सेठ ऐसा व्यवहार करता और ऐसा परेशान करता कि कोई मुनीम अधिक समय तक टिक नहीं पाता था। कितने ही मुनीम आये और चले गये।

अब एक नया मुनीम आया। उसने एक बार निर्जली एकादशी की। दूसरे दिन बिना भोजन किये ही वह दुकान पर आ गया। उस दिन सेठ एक बजे दुकान पर पहुँचा। आते ही उसने कहा—गरमागरम मालपुए उतर रहे हैं, पाव भर ले तो आओ। मुनीम जाकर ले आया। फिर कहा आधा पाव गरम जलेबी भी तो ले आओ। मुनीम मन ही मन कुढ़ने लगा, मगर गया और जलेबी भी ले आया। तत्पश्चात् सेठ ने कहा—अरे कहना भूल गया; एक छटांक रबड़ी भी लानी थी। लेते आओ! मुनीम क्रोध से भीतर ही भीतर जलने लगा। मगर नौकर ठहरा! गरज बावली होती है! सोचने लगा-मैं तो कल का भूखा हूँ और यह भोजन करके आया है। फिर भी बार बार दौड़ा रहा है। मुनीम मन मसोस कर रबड़ी भी ले आया। मगर सेठजी ने फिर भी पिंड न छोड़ा। कहा—और सब चीजें तो ले आये, किन्तु एक चीज रह गई खटाई बिना मिठाई नहीं भाती। दो आने के दहीवड़े और लेते आओ!

सेठ का इतना कहना था कि मुनीम से नहीं रहा गया। बोला—बस सेठ साहब! मैं आपके यहाँ नौकरी नहीं करूँगा! मुझे छुट्टी दीजिए। सेठ बोला—अच्छा, यह सब चीजें दुकान के

पीछवाड़े तो रख दो फिर चले जाना मुनीम ने ऐसा ही किया। सेठ भी साथ गया और जीमने बैठ गया। तब मुनीम ने कहा— अच्छा साहब, अब जाता हूँ !

सेठ ने कहा जाते तो हो, मगर मैं भोजन करके आया हूँ। मुझे यह सब नहीं भाता। तुम भूखे हो। तुम्हारा घर एक मील दूर है। कब जाओगे और कब खाओगे ! लो, आओ, तुम्हीं इन्हें खाजाओ यह कहकर जबर्दस्ती मुनीम को खाने के लिए बिठला दिया और सेठ स्वयं बाहर आ गया !

मुनीम मिठाइयाँ खाता जाता है और सोचता है—क्या ही अच्छा होता, मैं दो आने के दहीवड़े भी लेता आता, क्योंकि मिठाई खटाई के बिना नहीं चलती है। सेठजी ने यह सब मिठाइयाँ मेरे लिए ही मँगवाई थीं, परन्तु मुझे ज्ञान नहीं था ! इस प्रकार मुनीम पश्चात्ताप करता है।

तो जैसे मुनीम ने सेठ का कहना माना और थोड़ा सा न मानने के कारण उसे पछताना पड़ा, इसी तरह साधु—महात्मा कहते हैं-हमें किसी प्रकार का लोभ-लालच नहीं है। हमारा कोई स्वार्थ नहीं है अतएव जब हम कहते हैं-दान दो, शील पालो, तपस्या करो, किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाओ, असत्यभाषण न करो, चोरी न करो, क्रोध और कपट से बचो, लोभ मत करो तो हमारा कहना मानो। ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हें भी मुनीम की तरह पश्चात्ताप करना पड़ेगा साधु—महात्मा तुम्हें सच्चे सुख का मार्ग बतलाते हैं। उस मार्ग पर चलोगे तो मोक्ष की प्राप्ति कर सकोगे।

एक बार मैंने उदयपुर के राणा भोपालसिंहजी को उपदेश दिया था कि जीव रक्षा करना मनुष्य मात्र का परम धर्म है और

विशेषतः क्षत्रियों का। राणा साहब उपदेश सुनते थे तो उसे याद भी रखते थे। एक बार कर्मचारियों की प्रेरणा से वे शिकार खेलने के लिए जयसमंद गये। शिकार हाथ आया तो कर्मचारियों ने कहा—अन्नदाता! बड़ा शिकार आया है। राणाजी बोले-अच्छा, आने दो। शिकार मौके पर आया तो कहा—बंदूक लाओ। बंदूक लेकर निशाना ताका और फिर कहा—मुझे तो महाराज श्री चौथमलजी का उपदेश याद आ गया है कि जीव रक्षा करने से धर्म होता है। मैं इस प्राणी को अभयदान देता हूँ। महाराज श्री के पास जाकर यह समाचार उन्हें सुना दो।

भाइयो! कहने का अभिप्राय यह है कि हम आपको जो उपदेश देते हैं वह आपके ही हित के लिए है। आप श्रद्धापूर्वक उसे सुनेंगे और व्यवहार में लाएँगे तो आपका ही हित होगा। जो धर्म करेगा वही उसका फल पाएगा। बाप करेगा तो बाप भोगेगा बेटा करेगा तो बेटा भोगेगा। यह संभव नहीं कि परिवार में एक ने धर्म का आचरण किया तो सब को उसका फल मिल जाएगा। पत्नी के धर्म से पति को वैकुण्ठ नहीं मिल सकता। यह बात तो प्रत्यक्ष देखी जा सकती है कि जो खाता है, उसी का पेट भरता है। एक के खाने से दूसरे को तृप्ति का अनुभव नहीं हो सकता चाहे उनमें कितनी ही आत्मीयता क्यों न हो!

भाइयो! और-और वस्तुओं में पांती हो सकती है, परन्तु धर्म और विद्या में पांती नहीं हो सकती। चार भाइयों में कोई एम. ए. एल-एल. बी. है तो यह संभव नहीं कि वह अपनी विद्या को बँटवारा करदे--एम. ए. का ज्ञान एक भाई को दे दे, वकालत की बुद्धि दूसरे को बाँट दे और आप कोरा हो जाय! इसी प्रकार दया और करुणा करोगे तो आपके पीछे है और हिंसा करोगे तो भी आपके पीछे है।

करकंडू राजा वीतराग भगवान् के बतलाये मार्ग पर चला और पुण्योपार्जन करने में समर्थ हुआ तो आज सब प्रकार से सुखी है। संसार जिन सुखों की स्पृहा करता है, जिस सुख सामग्री के स्वप्न देखा करता है और जिसका न्यूनतर अंश पाकर ही अपने को कृतार्थ समझता है; वह सब सुख और वैभव उसे अनायास ही प्राप्त हो गया था। हाँ, कमी थी तो सिर्फ यही कि वह धर्म का आचरण नहीं कर रहा था। यों तो राजा शिक्षित और विवेकवान् था, जानता था कि पुण्य है, पाप है, धर्म का फल मधुर और अधर्म का फल कटुक होता है। फिर भी वह संयम धर्म का आचरण करने में उद्योगशील नहीं था।

एक वार वह पुण्यशाली राजा वायुसेवन के लिए महल से बाहर निकला। उसने देखा कि उसकी गौएँ और उसके बछड़े चरने जा रहे हैं उन सब में एक बछड़ा राजा को बहुत सुन्दर प्रतीत हुआ। अकस्मात् राजा को उस पर परम प्रीति उत्पन्न हो गई।

राजा की कृपादृष्टि जिस पर पड़ जाय, वह निहाल न हो जाय तो कृपादृष्टि पड़ी ही क्या!

हैदराबाद की घटना है। वहाँ का नवाब बूढ़ा था और शाहजादा बैठा हुआ था। इतने में एक आम वाला निकला और उसने मीठे आम खरीदने की टेर लगाई। शाहजादे ने बाहर आकर उससे पूछा-आम क्या भाव हैं?

शाहजादे की यह बात नवाब ने सुन ली। उन्हें बहुत क्रोध आया। बाहर आकर बोले—कमीने! तू मेरी गद्दी के योग्य नहीं है। रैयत भी भाव पूछती है और तू भी भाव पूछता है तो तुममें और रैयत में क्या अन्तर हुआ? तुझे आम पसंद आये तो ले ले और टोकरा भर रुपये दे दे! तात्पर्य यह है कि राजा की कृपादृष्टि निहाल कर देती है।

राजा करकंडू ने गुवाल को आदेश दिया कि इस बछड़े की माता का दूध न निकाला जाय और इस बछड़े को ही पिला दिया जाय। इतने पर भी भूखा रह जाय तो दूसरी गाय का दूध पिला दिया जाय!

राजा के आदेश से बछड़े को भरपेट दूध मिलने लगा। वह बछड़ा कभी-कभी राजमहल में भी ले जाया जाता और राजा उसे पौष्टिक माल खिलाया करता था। इस प्रकार वह बछड़ा फूल गया और यथासमय मस्त सांड बन गया।

सांड इतना अधिक मस्त हो गया कि लोगों ने उसका नाम 'दूधमल्ल' सांड रख दिया। उसे देखकर दूसरा सांड पास भी नहीं फटकता था!

परन्तु यह जीवन और यौवन-सब अनित्य है। टिकने वाला नहीं है। कहा भी है—

आयुर्विनश्यति यथाऽऽमघटस्थतोयम्,
विद्युत्प्रभेव चपला बत यौवनश्रीः।

जैसे कच्चे घड़े में स्थित जल विनाश को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आयु भी प्रतिक्षण नाश को प्राप्त हो रही है। इसी तरह यौवन भी विद्युत् की चमक के समान क्षणभंगुर है।

निसर्ग के अनिवार्य विधान से मदोन्मत्त और हृष्टपुष्ट सांड भी बूढ़ा हो गया। उसके खुर और सींग ढीले पड़ गए। धीरे-धीरे वह अत्यन्त शिथिल हो गया। यहाँ तक कि एक दिन वह चलता-चलता रास्ते में पड़ गया। कुछ लोग उसे उठाने लगे। लोग उठाते थे, सांड उठने की कोशिश करता था और फिर गिर पड़ता था।

अचानक उधर से राजा करकंडू भी निकल पड़े। भीड़ का कारण पूछने पर कहा गया कि आपके सांड को बुढ़ापा आ गया है और इतना शिथिल हो गया है कि वह उठ नहीं सकता।

राजा करकंडू सवारी से उतरे। उन्होंने उसकी हालत देखी। चित्त में घोर निर्वेद उत्पन्न हुआ। सोचने लगे—आह! एक दिन इसकी क्या स्थिति थी और आज क्या दशा है? सत्य है, शरीर क्षणभंगुर है और इस जीवन में लेश मात्र भी स्थायित्व नहीं है।

जीवितं मरणान्तं हि, जरान्ते रूपयौवने।

सम्पदो विपदान्ता वा, अत्र को रतिमाप्नुयात्॥

जीवन का अन्तिम परिणाम मृत्यु है। सौन्दर्य और यौवन अन्त में जरा के रूप में परिणत हो जाते हैं। सम्पत्ति विपत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। ऐसी दशा में कौन विवेकवान् मनुष्य इनमें अनुराग धारण करेगा?

राजा गम्भीर विचार में पड़ गया। उसने कहा—सांड की यह दशा हम सब के लिए एक सुनहरी शिक्षा है। हमारे जीवन की आगे चल कर किस रूप में परिणति होने वाली है, यह तथ्य हमारे सन्मुख मूर्तिमान् रूप ग्रहण करके प्रस्तुत है। सांड मानों ललकार कर कह रहा है—शीघ्र ही सावधान हो जाओ—तुम्हारा भी बुढ़ापा आने वाला है, तुम्हारी भी मृत्यु होने वाली है। तुम्हारी इन्द्रियाँ भी इसी प्रकार शिथिल पड़ जाएँगी, अंग-अंग ढीले हो जाएँगे! यौवन की यह बहार चार दिन की है!

निर्वेद ही निर्वेद में राजा करकंडू राजमहल में आया। उसने अपने राज्य के बड़े बड़े उच्चकोटि के वैद्यों को आमंत्रित किया और उनसे कहा—मैं ऐसी औषध चाहता हूँ कि—

हम नहीं मरें अमर रहें जग में, नहीं बुढ़ापा आवेरे।
जागीरी बत्तीस करूं, जो दवा खिलावेरे ॥१॥

भिषक्गण! लाखों रुपया खर्च हो जाय तो भले हो जाय, मगर ऐसी कोई औषध तैयार करदो कि प्रथम तो बुढ़ापा न आवे और दूसरे मौत न आने पावे! क्या यह संभव है?

वैद्यों ने परस्पर विचार-विमर्श करके कहा—पृथ्वीनाथ! ऐसी औषध तो तैयार हो सकती है, किन्तु उसे तैयार करने के लिए ऐसे घर की राख मँगवानी पड़ेगी जिस घर में आज तक कोई मरा न हो!

राजा ने आदमी भेजे, किन्तु ऐसा कोई घर न मिला!

तब वैद्यों ने कहा—महाराजाधिराज! तब औषध नहीं तैयार हो सकती। वृद्धावस्था और मृत्यु जीवन के अनिवार्य अंग हैं। निसर्ग के इस अटल नियम का उल्लंघन करने की किसी में शक्ति नहीं है। अमर्त्य कहलाने वाले देवगण भी अन्त में मृत्यु रूपी व्याघ्री की विकराल दाढ़ों में पिस जाते हैं, तो मनुष्य की क्या चलाई है? वह तो मर्त्य कहलाता है। मौत उसे नहीं छोड़ेगी, कदापि नहीं छोड़ेगी।

दूसरे वैद्य ने कहा—भूपालवर! मौत की भी एक उपयोगिता है। मौत न हो तो इस संसार में मनुष्यों की इतनी वृद्धि हो जाय कि तिल धरने को भी अवकाश न रहे! उनके जीवन-निर्वाह की समस्या उलझ जाय और विकराल स्थिति उत्पन्न हो जाय! मनुष्य सदा के लिए स्वर्ग और मोक्ष के सुख से वंचित हो जाय, क्योंकि शरीर का त्याग किये विना उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती!

सच ही कहा है—

आने की शहादत जाना, जाने से क्या पछताना !
दुनियाँ है मुसाफिर खाना रे, तू जाग जरा या सो लेरे ॥
काया का पिंजरा डोले ॥

कोई कहे कि जाने का क्या प्रमाण है ? उत्तर है—आना ही जाने का प्रमाण है। जन्म लेना ही मरने का सबूत है। लड़का जन्म लेता है तो कहा जाता है—लड़का जाया ! आप यह नहीं कहते कि लड़का आया ! कहा भी है—

जाया जाया सब कहे, आया कहे न कोय।
जाया नाम जनम का तो, रहना किस विध होय ॥

तो स्पष्ट है कि आएगा सो जाएगा। संसार की कोई भी औषधि, कोई भी शक्ति, और कोई भी व्यक्ति इस नियम को पलटने में समर्थ नहीं है। यही सोच कर राजा करकंडू के अन्तःकरण में वैराग्य की किरणें प्रस्फुटित हुईं। उन किरणों में राजा अपना भावी जीवन देखने लगा—अपने भविष्य को उसने साफ-साफ देख लिया। राजा ने उस सांड को देख कर समझ लिया कि इस काया को कितना ही लाड़ लड़ाओ, कितना ही हृष्ट-पुष्ट बनाने का यत्न करो, एक दिन यह धोखा दे ही जायगी। यह शिथिल होकर गिर जायगी और अन्त में निर्जीव होकर चिता में भस्म की जायगी।

राजा करकण्डू सच्चा पुण्यवान् था। उसने विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करली और आत्मा का कल्याण किया।

भाइयो ! असीम पुण्योदय से मानवभव की प्राप्ति हुई है। ईश्वर का भजन करके, अन्तरात्मा में समताभाव जागृत करके,

अहिंसा आदि व्रतों का पालन करके और आत्मरमण करके इसे सफल बनाओ। संसार की अनित्यता को समझो और मोह-ममता को कम करो। ऐसा करोगे तो आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

२३-९-४८ }
राणावास }

मनुष्य और पशु

स्तुतिः—

यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा—
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? हे प्रभो! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ?

प्रभो! समस्त शास्त्रों के अध्ययन मनन और चिंतन से उत्पन्न हुई बुद्धि के कारण जो अत्यन्त पटु हैं, ऐसे शक्रेन्द्र महाराज ने आपके गुणों की स्तुति की है। वह स्तुति भी कुछ साधारण नहीं थी। तीनों जगत् के समस्त भव्य प्राणियों के चित्त को हरण करने

में समर्थ और अत्यन्त उदार एवं उदार भावों से परिपूर्ण थी। इस प्रकार इन्द्र के सदृश पटु भक्त जिनकी इतनी मनोहर स्तुति कर चुके हैं, मैं भी उनकी स्तुति करने चला हूँ! कैसा अतिसाहस है मेरा!

जिन आदिनाथ प्रभु के एक गुण का वर्णन करने में भी वाणी समर्थ नहीं है, वे अनन्त गुणों से विभूषित हैं। किसका सामर्थ्य है जो उन गुणों का वर्णन कर सके? एक ग्रन्थकार यथार्थ ही कहते हैं:—

पत्रं व्योम मसी महाम्बुधिसरित्कुल्यादिकानां जलं,
लेखिन्यः सुरभूरुहाः सुरगणास्ते लेखितारः समे।
आयुः सागरकोटयो बहुतराः स्फीताः तथापि प्रभो!
नैकस्यपि गुणस्य ते जिन! भवेत्सामान्यतो लेखनम्॥

ग्रन्थकार भगवत्स्तुति करने का संकल्प करके चले, मगर उन्हें पता चला कि मामला बड़ा बेढब है। भगवान् में अनन्तगुण हैं और उनमें से एक गुण की स्तुति करना अर्थात् एक गुण का भी शब्दचित्र अंकित करना कठिन है। तब वे अपनी असमर्थता प्रकट करके ही स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—हे जिन देव! प्रभो! सम्पूर्ण अनन्त आकाश को यदि कागज़ बना लिया जाय, समस्त सागरों नदियों और सरोवरों आदि के जल को स्याही बना लिया जाय, तमाम कल्पवृक्षों को लेखिनी के रूप में प्रयुक्त किया जाय, स्वर्ग के सब देवों को लेखक के रूप में काम में लिया जाय, उनकी आयु बहुत से करोड़ों सागरों जितनी विपुल हो, तब भी आपका एक भी गुण पूरी तरह नहीं लिखा जा सकता!

ऐसी है परमात्मा के गुणों की महिमा! कहां प्रभु के अनंत गुण और कहां साधारण मनुष्य की क्षुद्र-सी शक्ति!

प्रश्न हो सकता है—अगर परमात्मा की स्तुति करना असंभव है तो फिर उसके लिए प्रयत्न ही क्यों किया जाय ? असंभव कार्य में हाथ डालना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती !

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मनुष्य संसार की समस्त खाद्य सामग्री नहीं खा सकता, फिर भी शक्ति के अनुसार खाता ही है। कोई भी पुरुष संसार की समस्त विद्याओं और कलाओं का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, फिर भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करता ही है। ऐसी बातों में यह नहीं सोचा जाता कि सब खाद्य नहीं खाये जा सकते तो थोड़े क्यों खाये जाएँ ? परिपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता तो अपूर्ण क्यों प्राप्त करूँ ? तो फिर प्रभु के गुण स्तवन के सम्बन्ध में ही ऐसा क्यों सोचना चाहिए ? जितना खाया जायगा और पचाया जायगा, उतने का ही रस बनेगा और उसी परिमाण में शरीर को पोषण मिलेगा। इसी प्रकार भगवान् के गुणों की जितनी स्तुति करोगे और उससे हृदय को द्रवित करोगे, उतना ही लाभ होगा, उतना ही आत्मा को पोषण मिलेगा। अतएव प्रत्येक भक्त का यही कर्त्तव्य है कि वह अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार परमात्मा की स्तुति भक्ति करे और आत्मा का कल्याण करे।

इस प्रकार जिनके समस्त गुणों का वर्णन करना संभव नहीं, उन आदिनाथ भगवान् को ही हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो ! भगवान् ऋषभदेव सब क्षत्रियों में आद्य-मुख्य क्षत्रिय हुए हैं। वह सबसे पहले राजा हुए। उन्होंने ही राज्य करने की प्रणाली चलाई। राज्य की प्रणाली को सुव्यवस्थित करने के पश्चात् उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया और साधु बन गए। तपस्या करके सर्वज्ञानी बन गये। तदनन्तर जगत् को धर्मोपदेश

दिया। वही जैनधर्म में सबसे पहले तीर्थंकर कहलाते हैं।

भगवान् ने बतलाया कि संसार में चार तीर्थ हैं। जिसका आश्रय लेकर संसार-सागर तिरा जाय-पार किया जाय, अर्थात् भवभ्रमण से छुटकारा पाया जाय, उसे तीर्थ कहते हैं। ऐसे तीर्थ चार हैं-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। जो अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करते हैं, ऐसे पुरुष साधु कहलाते हैं। इन्हीं महाव्रतों का पालन करने वाली महिलाएँ साध्वी कहलाती हैं। इन व्रतों को पूर्ण रूप न पाल सकने के कारण जो आंशिक रूप से पालते हैं, उन नर-नारियों को क्रमशः श्रावक और श्राविका कहते हैं।

किसी भी स्थावर या जंगम प्राणी को मन, वचन, काय से पीड़ा न पहुँचाना, दूसरे से न पहुंचवाना और पहुँचाने वाले की अनुमोदना न करना पहला अहिंसा महाव्रत कहलाता है। इसी प्रकार असत्य वचन पीड़ाजनक वचन क्लेश-कारक, संतापजनक, संदिग्ध और निष्ठुर वचन न बोलना सत्य महाव्रत कहलाता है। यह भी मन, वचन और काय से पाला जाता है। किसी वस्तु को यहाँ तक कि तिनका जैसी तुच्छ को भी, विना आज्ञा ग्रहण न करना अस्तेय महाव्रत है। पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना, अपनी इन्द्रियों पर पूरी तरह काबू रखना ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है। धन, दौलत, मकान, महल, हाथी, घोड़ा, मठ, जागीर आदि किसी प्रकार की सचित्त अथवा अचित्त वस्तु पर ममता न रखना और धर्म के उपकरणों के सिवाय अन्य किसी भी वस्तु को अपने पास न रखना अपरिग्रह महाव्रत है। साधु-साध्वी के लिए मन, वचन, काय से इन महाव्रतों का पालन करना अनिवार्य होता है। इन महाव्रतों को आजीवन पालने की भीष्म-प्रतिज्ञा करने वाले मुनिजन ही प्रथम तीर्थ हैं।

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं, सद्यः साधुसमागमः ॥

साधु जनों का दर्शन पुण्य रूप है, क्योंकि साधु साक्षात् तीर्थ स्वरूप हैं। और-और तीर्थ तो समय पर ही फल देते हैं, किंतु साधुओं का समागम शीघ्र ही अपना फल प्रदान करता है।

आज तो कोई किसी को और कोई किसी को तीर्थ कहता है। अगर किसी तीर्थ में जाओ, वह आपको आत्म ज्योति नहीं दे सकता। आप उसे अपना आदर्श मानकर आत्मा के असली स्वरूप को, अन्तस्तत्त्व को नहीं पहचान सकते। वह आपको धर्म का मार्ग नहीं बतला सकता। किन्तु साधुतीर्थ के समागम से आपको यह सब लाभ होते हैं। सन्त पुरुष स्वयं तिरते और दूसरों को तारते हैं।

यह धर्मशास्त्र की बात है। नीतिशास्त्र में माता--पिता आदि गुरुजनों को भी तीर्थ कहा गया है। वैष्णवधर्म में तो यहाँ तक कहा गया है कि जब तक माता--पिता विद्यमान हैं, तब तक पुत्र को दूसरे तीर्थों में अटन करने की आवश्यकता ही नहीं है।

भाइयो! आजकल के लोगों ने, कलियुग के प्रभाव से प्रभावित होकर, नया दर्शनशास्त्र बना लिया है। उनकी समझ में सासू तीर्थ है और श्वसुर तीर्थ है। यह सब दृष्टिकोण आपके सामने मौजूद हैं। आपको जो पसंद हो, उसी तीर्थ को मान लो! सुना तो यहाँ तक जाता है कि आजकल माता--पिता तीर्थ का स्थान सासू--श्वसुर तीर्थ ने ग्रहण कर लिया है। लोग अपने सगे भाई को घर का भेद नहीं बतलाते, मगर साले को सारा भेद दे देते हैं!

यह तीर्थ तो खैर है सो है ही, परन्तु पूरा तीर्थ तो गृहदेवी का--घरवाली का--है। कम्पनी-सरकार जो हुक्म फरमाती है, उसी का पूरी तरह पालन किया जाता है। जितने क़दम उठाने को कहती है, उतने ही क़दम उठाये जाते हैं। मगर याद रखना, यह अनीति के तीर्थ हैं। माता-पिता आदि नीतिशास्त्र के तीर्थ हैं। और सन्त-जन परमज्ञानियों के माने हुए तीर्थ हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अनीति का परित्याग करके नीति का अवलम्बन करे और धर्म एवं अध्यात्म की ओर अग्रसर हो।

चार पूर्वोक्त तीर्थों में श्रावक भी तीर्थस्वरूप माना गया है। संसार से पूरी तरह जिसकी मोह-ममता नहीं टूटी है और जो पूर्ण रूप से पापों का परित्याग करने में असमर्थ है, इस कारण जो महाव्रतों को नहीं पाल सकता, उसे कम से कम गृहस्थधर्म का पालन तो करना ही चाहिए। गृहस्थ के लिए ज्ञानियों ने मुख्यरूप से बारह नियम बतलाये हैं। जो धर्म से सर्वथा रहित हैं, उनमें और पशुओं में क्या अन्तर है? कहा भी है:—

> आहारनिद्राभयमैथुनञ्च,
> सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषः,
> धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

नीतिकार का कथन है कि मनुष्य और पशु में धर्म ही विभाजक रेखा है। मनुष्य भी आहार करते हैं और पशु भी आहार करते हैं। मनुष्य सोते हैं तो पशु भी सोते हैं। भयजनक पदार्थों को देखकर मनुष्य भी डरते हैं और पशु भी डरते हैं। मनुष्य काम-

वासना को चरितार्थ करते हैं तो पशुओं में भी वह वासना विद्यमान है। इन सब बातों में मनुष्य और पशु के बीच कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है तो यही कि मनुष्य जिस धर्म का पालन करते हैं, पशु नहीं कर सकते। जब मनुष्य और पशु में केवल धर्मपालन का ही अन्तर है तो यह भी स्पष्ट है कि जो मनुष्य की आकृति को धारण करके भी धर्म का पालन नहीं करता, वह पशु के ही समान है।

भाइयो! केवल नर की आकृति पा लेने में ही कोई महत्ता अथवा विशेषता नहीं है। नर की आकृति तो वानर में भी पाई जाती है। मनुष्य की विशेषता सच्चा मनुष्यत्व प्राप्त करने में है। मनुष्यत्व का अर्थ है नीति और धर्म की मर्यादा को समझना और उसके अनुकूल वर्त्ताव करना। इसी अभिप्राय से मनुष्य का दर्जा ऊँचा माना गया है।

कल्पना कीजिए, किसी सेठ को राजा ने नगरसेठ की पदवी प्रदान कर दी। अब वह सेठ अगर अपने पद-गौरव को नहीं समझता और बाजार में गधे की सवारी करके निकलता है तो जनता यही कहेगी कि पदवी पाकर यह ऊँचा नहीं बना है, बल्कि इसने गौरवमयी पदवी के गौरव को नीचा कर दिया है। इसमें 'नगरसेठ' की पदवी की योग्यता ही नहीं है।

तमाम पशुओं और नरकयोनि के जीवों में तो मनुष्य का दर्जा ऊँचा है ही, धर्म के लिहाज से देवों और देवेन्द्रों से भी ऊँचा है। मनुष्य प्राणी जगत् का सरदार कहलाता है, इसी दृष्टि से कि वह अपने आपको समझ सकता है और अपने स्वरूप को पा सकता है।

सिंह का बच्चा मर जायगा, मगर घास नहीं खाएगा। जब जानवरों में भी यह तासीर है तो ऐ मनुष्य! तू इतने ऊँचे दर्जे पर

पहुँच कर अपनी मर्यादा के विरुद्ध कार्य कैसे करता है ? अगर करता है तो मनुष्य कहलाने का तुझे क्या अधिकार है ? इसलिए मैं कहता हूँ कि मनुष्य अपनी इज्जत को समझे और ज्ञानी एवं चारित्रनिष्ठ महात्माओं की संगति करे, जिससे कि वह ऊँचे दर्जे पर पहुँच कर नीचे की ओर न गिरे और अपने पद की प्रतिष्ठा में धब्बा न लगने दे।

इज्जत थारी रे तू रखजे चतुर सँभाल।
इज्जत थारी रे ॥ टेर ॥
तन धन से इज्जत बड़ी, आदर देवे भूपाल ॥ १ ॥

सब से ऊँचे दर्जे का जन्म मिला है तो इसकी आबरू रखना। याद रक्खो, इज्जत-आबरू मोल नहीं मिलती। यह बड़े ऊँचे दर्जे की चीज है और तन एवं धन से भी अधिक मूल्यवान् है। कितने ही लोग इज्जत के लिए हजारों-लाखों खर्च कर देते हैं और कितने ही वीर पुरुष प्राण भी अर्पण कर देते हैं। समझदार लोग इज्जत के लिए सर्वस्व समर्पित करते भी हिचकते। नागे लोग इज्जत के महत्त्व को नहीं समझते। उनके तो आगे और पीछे नौबत बजती है।

आपको पता ही होगा कि महाराणा फतहसिंहजी से पहले स्वरूपसिंहजी हुए। उन्होंने रावली दुकान के नाम से एक दुकान खुलवाई। दुकान खुलवाने का उद्देश्य कमाई करना नहीं था। वरन् प्रजा को सुविधा पहुँचाना चाहते थे। अतएव उस दुकान में यह नियम बनाया गया था कि जिसे किसी दूसरी दुकान से उधार न मिले, वह उस दुकान से उधार ले जाय। महाराणा जब दुकान का उद्घाटन करने गये तो उन्होंने मुनीम को हिदायत देते हुए कहा-

देखो, सबको, खास तौर से गरीबों को उधार देना, किन्तु जो मुझसे बड़ा हो, उसे उधार मत देना।'

महाराणा साहब की यह उक्ति सुनकर मुनीम और दूसरे सुनने वाले भौंचक-से रह गये। वे सोचने लगे-अन्नदाता से बड़ा कौन है? तब एकने साहस करके पूछ लिया-अन्नदाता! आपके कथन का अर्थ समझ में नहीं आया। आपसे बड़ा कौन है?

महाराणा ने उत्तर दिया-समझे नहीं? जो नागा हो और निर्लज्ज हो, जिसे अपनी इज्जत का खयाल न हो, वही मुझसे बड़ा है।

भाइयो! जब ऐसे लोग गलियों में होकर निकलते हैं तो लोग उनकी तरफ उँगली उठाते हैं। वास्तव में ऐसे लोगों की जिन्दगी किसी काम की नहीं है। आपको मालूम होगा कि कोला (कूष्माण्ड) जिस वेल में लगता है, उसकी ओर उँगली उठा दी जाय तो वह सूख ही जाता है। कोला एक फल है परन्तु उसे मालूम है कि मैं सब फलों में बड़ा हूँ और मेरी ओर उँगली उठा दी! जब फल में यह तासीर है तो मनुष्य में क्या होना चाहिए; यह मनुष्य स्वयं सोच ले!

रामचन्द्रजी ने सीता के लिए रावण से लड़ाई की। क्यों? क्या उन्हें दूसरी पत्नी नहीं मिल सकती थी? रानियों की उनके लिए कमी नहीं थी। स्वयं रावण ने उन्हें प्रलोभन दिया था कि सीता के बदले में हजारों सुन्दरी कन्याओं के साथ आपका विवाह करा दूंगा। किन्तु रामचन्द्रजी ने यह स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सीता की और अपनी इज्जत के लिए भयानक संग्राम किया। जब राम ने लंका पर चढ़ाई की तो रावण के भाई विभीषण ने और रानी मन्दोदरी ने उसे बहुत समझाया कि सीता को वापिस लौटा दो।

मगर रावण ने कहा-मैं जिस हाथ से सीता को लाया हूँ, उसी हाथ से वापिस लौटा दूं तो मेरी इज्जत चली जायगी। मैं राम से कम नहीं हूँ। जब तक मेरे दम में दम है, तब तक मैं सीता को नहीं दूंगा। इस प्रकार राम ने लड़ाई की तो इज्जत के लिए और रावण ने लंका एवं प्राणों का चला जाना स्वीकार किया तो भी अपनी इज्जत के लिए ही। इसे इज्जत कहो, बात कहो, पानी कहो या पत कहो, एक ही बात है।

सच तो यह है कि इज्जत के बिना मनुष्य का मूल्य कानी कौड़ी का भी नहीं है। इज्जतदार मनुष्य ही पूरा मनुष्य है। संसार के इतिहास को देखने से पता चलेगा कि इज्जत की रक्षा के लिए कितने ही पुरुषों ने घोर से घोर संकट सहन किये हैं! दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। मेवाड़ और चित्तौड़ के इतिहास पर ही एक दृष्टि डालोगे तो विदित हो जायगा कि इज्जत कितनी कीमती वस्तु है और उसकी रक्षा के लिए मेवाड़ के वीरों और वीरांगनाओं ने कितने-कितने संकट सहन किये हैं, कैसा कैसा गंभीर और महान् उत्सर्ग किया है!

मैंने विक्रम संवत २००० में चित्तौड़गढ़ में चौमासा किया था। उस समय वहाँ के सब स्थान देखने में आये। देखा कि यहाँ पद्मिनी का महल था, यहाँ मुगल-बादशाह गया और यहाँ यह हुआ। यह सब देखकर राजपूतों की असाधारण वीरता के दृश्य आँखों के आगे आ गये। उसी समय एक लावनी बनाई गई:—

यह गढ़ चित्तौड़ की कथा सुनो नर नारी।
हुई सती पद्मिनी धीर धरम की धारी॥ टेर॥
श्रीरत्नसिंह महाराजा नूर नूरानी।

ये सिंहल द्वीप की व्याही पद्मिनी रानी।
जिसके स्वरूप की घर घर फैली कहानी,
सुन अलाउद्दीन खिलजी की नियत पलटानी।
कब बेगम मेरी होवे पद्मिनी नारी॥ १॥

यह शीशोदिया वंश की महारानी पद्मिनी की, जिसने अपने धर्म की और इज्जत की रक्षा के लिए जौहर किया-प्राणोत्सर्ग किया, उसी का यह प्रेरणाप्रद वृत्तान्त है। मेवाड़ के महाराणा एक बार जगदीश गये थे। उस समय सिंहलद्वीप में, जिसे आजकल सीलोन कहते हैं, राजपूत राजा राज्य करते थे। उनकी कन्या का नाम पद्मिनी था। पद्मिनी नाम की पद्मिनी नहीं थी लक्षणों और गुणों से भी थी। वह ऐसी सुकोमल और रूपवती थी कि जब पानी पीती तो उसके गले में पानी उतरता हुआ दिखाई देता था। ऐसी पुण्यशालिनी वह कन्या थी।

सिंहलद्वीप के राजा को पता चला कि उदयपुर-नरेश जगदीश-यात्रा करने आये हैं। उसने उन्हें अपने यहाँ आमंत्रित किया और सब प्रकार से योग्य वर समझ कर पद्मिनी का उनके साथ विवाह कर दिया। राणाजी रानी पद्मिनी को लेकर चित्तौड़ आ गए। पद्मिनी के रूपसौन्दर्य की ख्याति सब जगह फैल गई, यहाँ तक कि दिल्ली तक जा पहुँची। उस समय दिल्ली का बादशाह अलाउद्दीन खिलजी था। उसने पद्मिनी के रूप की प्रशंसा सुनकर उसे प्राप्त करने की चेष्टा की और विशाल सैन्य सुसज्जित करके चित्तौड़ की ओर प्रस्थान कर दिया।

ले निकट फौज चित्तौड़ पै करी चढ़ाई।
दोनों नदियों के बीच फौज ठहराई॥

किल्ले को घेर कर यहीं छावनी छाई ।
छह महीने में भी नहीं पद्मिनी पाई ॥
तब निराश होय कर एक अनीति विचारी ॥ २ ॥

अलाउद्दीन ने अपनी सेना से चित्तौड़गढ़ को घेर लिया। किले के फाटक बंद कर दिये गये। राणाजी को बादशाह की नियत मालूम हो गई थी। वह उसके मनोरथ को पूर्ण करने में असमर्थ थे। बादशाह को पड़े-पड़े छह महीने बीत गये। जब सफलता का कोई आसार नजर नहीं आया तो उसने कपटनीति अख्तियार की।

कर कपट बात यह राणा को कहलाई,
मैं नहीं चाहता वैर विरोध लड़ाई।
पद्मिनी की महिमा दिल्ली में सुन पाई,
तब से दर्शन करने की मन में आई ॥
यह इच्छा पूरण कीजे मित्र ! हमारी ॥ ३ ॥

छल का प्रयोग करते हुए बादशाह ने राणाजी के पास संदेश भेजा—मैं आपसे लड़ने के लिए नहीं आया हूँ। आपकी रानी पद्मिनी की तारीफ सुनकर उनकी जियारत के लिए आया हूँ। मैं आपका दोस्त बनकर आया हूँ। पद्मिनी के दर्शन करके अपनी फौज के साथ वापिस दिल्ली चला जाऊँगा।

राणाजी ने यह संदेश सुना। राजपूत सच्चे वीर थे, परन्तु कपट नहीं जानते थे। वे निष्कपट और सरल हृदय वाले थे। अतः—

महाराणा सरल स्वभाव उसे बुलवाया,
शीशे में महाराणी का मुंह दिखलाया।
महमान समझ कर नीचे तक पहुँचाया,
छिपी हुई फौज से राणा को पकड़ाया॥
हुआ दगा राजपूतों ने लिया विचारी ॥४॥

महाराणा भी सरल-स्वभाव के वीर थे। उन्होंने सोचा—अल्लाउद्दीन एक मित्र के नाते आता है तो आने दो। यह सोचकर उन्होंने उसे बुला लिया। बादशाह के आने पर राणाजी ने उसका स्वागत किया और उसे मर्दाने महल में ले गये। दूसरे महल से पद्मिनी का रूप शीशे में उसे दिखलाया। परन्तु उस रूप को देख-कर बादशाह की नियत और अधिक बिगड़ गई; क्योंकि पुण्यवती स्त्री का रूप, चाहे वह सुन्दर वस्त्र और आभूषण न भी धारण किये हो तो भी, मनोहर ही होता है। जिसने पूर्वजन्म में अच्छी करणी न की हो, उसे अच्छा रूप नहीं मिलता। सुन्दर रूप भी पुण्य का एक फल है।

हाँ, तो बदशाह पद्मिनी का रूप देखकर रवाना हुआ तो शिष्टाचार के अनुरोध से राणाजी उसे पहुँचाने गये। कपटी और धूर्त बादशाह ने राणाजी से चिकनी--चुपड़ी बातें छेड़ दीं और यों करते--करते उन्हें अन्तिम दरवाजे तक ले आया। पहुँचते ही उसने इशारा किया और छिपे हुए सैनिकों ने राणाजी को घेर कर पकड़ लिया और कैद कर लिया।

उसी समय यह संवाद किले पर पहुँच गया। समस्त सरदार और उमराव एकत्र हुए। उन्होंने कहा- दगाबाज़ बादशाह बेईमानी

करने से नहीं चूका ! शीघ्र ही हमें इसका प्रतीकार करना होगा।

पद्मिनी की पीड़ा असीम थी। वह सोचने लगी--महाराणा की विपत्ति का कारण मैं हूँ। मेरे कारण ही उन्हें शत्रु के पंजे में पड़ना पड़ा है ! मगर क्या किया जाय ? उसने उमरावों को संदेश भेजा--मेरे स्वामी को शीघ्र ही मुक्त करके लाने का उपाय करो।

सब सरदार सभा भवन में चिन्ताकुल बैठे समस्या पर विचार विमर्श कर रहे थे। उन्होंने पद्मिनी को उत्तर दिया— 'आपके स्वामी हमारे भी स्वामी हैं और उन्हें वापिस लाने के लिए जैसे आप चिन्तित हैं, वैसे ही हम भी। स्वामी अवश्य आएँगे, चाहे हम सब के प्राण चले जाएँ।' आखिर सरदारों ने निश्चय किया—दगा का उत्तर दगा से ही दिया जाना चाहिए। और उन्होंने सम्पूर्ण योजना बनाकर राणाजी को छुड़ा लाने का उपाय खोज निकाला। उन्होंने बादशाह के पास समाचार भेज दिया कि महारानी पद्मिनी आपसे मिलने के लिए आना चाहती हैं।

कर खबर बादशाह पै ये खबर भेजावे,
पद्मिनी प्रेमवश पास तुम्हारे आवे।
सात सौ बांदियां डोले में संग लावे,
सुन अलाउद्दीन की तबियत अति हर्षावे॥
एक डोले पर दुशाला जरी का डारी॥ ५॥

बादशाह को संदेश दिया गया कि पद्मिनी इज्जत के साथ आपके पास आएगी। उसकी सात सौ बांदियां हैं और वे भी पर्दा-नशीन हैं। अतएव वे भी डोलों में बैठकर आएँगी।

बादशाह अपनी सफलता पर फूला न समाया। उसने सोचा—रक्त की एक भी बूँद बिना बहाये काम बन रहा है! बांदियाँ डोलों में बैठ कर आती हैं तो आने दो।

इधर सात सौ डोले तैयार हुए। पद्मिनी के बहाने सजाये गये डोले में गौरा और बादल सरदार सशस्त्र होकर बैठ गये और शेष सात सौ डोलों में दूसरे सरदार और वीर अपने-अपने हथियारों से लैस होकर जम गये। एक-एक डोले को उठाने के लिए चार-चार योद्धा लग गये और वे भी सब शस्त्र सज्जित थे। खास डोले पर ज़री का पर्दा डाल दिया गया।

डोले में एक सरदार चार उठावे,
शस्त्रों से डोले सजे सैन्य में आवे।
पद्मिनी पति से अन्तिम मिलना चहावे,
यह शाह सुणी राणा के पास पठावे॥
मिलने के बहाने राणा को लिया निकारी॥६॥

आखिर सात सौ डोले बादशाह की छावनी में जा पहुंचे। वहाँ पहुँच कर बादशाह से कहा गया—जहाँपनाह! इस डोले में महारानी पद्मिनी हैं। वे अपने पति के अन्तिम दर्शन करना चाहती हैं।

बादशाह ने कह दिया—अच्छा, मिल लेने दो!

डोला राणाजी के पास पहुँचा। दोनों सरदार उसमें से निकल पड़े और महाराणा से कहा—आप इसमें बैठ जाइए। ज़री का पर्दा दूसरे डोले पर डाल दिया गया। वह डोला राणाजी को

लेकर किले की ओर रवाना हुआ। बादशाह ने उसे जाते देखा तो कहा-यह डोला कहाँ जा रहा है ? उसे उत्तर दिया गया-एक बांदी बीमार है। वह महलों में जा रही है। बादशाह ने कहा-अच्छा जाने दो। वह डोला ज्यों ही दरवाजे के भीतर प्रविष्ट हुआ कि दरवाजा बंद कर दिया गया।

इधर एक साथ सभी सरदार डोलों में से बाहर आ गये। बादशाह की फौज बेखबर पड़ी थी, क्योंकि लड़ाई की कोई संभा--वना नहीं थी। अचानक राजपूत वीरों को प्रकट हुआ देखकर बाद-शाह ने कहा--या अकबरअली !

इधर राजपूतों ने गर्जना की--हर हर महादेव ! बजरंगबली ! राजपूतों ने पल भर भी विलम्ब किये बिना बादशाह की फौज को काटना आरंभ कर दिया। बहुत कुछ सफाया हो गया !

डोले में बिठा फौरन राणाजी ताई,
और गढ़ चित्तौड़ पर दीना तुरत पठाई।
फिर राजपूतों ने ऐसी खड्ग बजाई,
खा हार बादशाह दिल्ली कूच मनाई॥
पद्मिनी को चित्त से किन्तु नहीं बिसारी ॥७॥

जब राजपूतों की कठोर करवाल से बादशाह की अधिकांश सेना कट गई तो शेष बची सेना को लेकर वह दिल्ली की तरफ भाग गया। मगर पद्मिनी को वह भूल न सका। उसके हृदय में यही रहा कि अगर पद्मिनी को अपनी बेगम न बनाया तो यह सल्तनत ही बेकार है ! इस कुत्सित विचार से—

एक बार बादशाह फिर चित्तौड़गढ़ आया,
क्षत्रियों ने उसको खूब ही हाथ दिखाया।
रणवास में राणा अंत में आ जतलाया,
रहे धर्म तुम्हारा शरण अनल की जायां॥
अग्नि का कुंड एक रचा सामने भारी ॥८॥

अब की वार बादशाह बहुत बड़ी फौज लेकर आया था। उसने चारों ओर से चित्तौड़ के किले को घेर लिया। राजपूतों ने डट कर मुकाबिला किया, किन्तु विजय की कोई आशा न रही। तब सब राजपूत किले के भीतर आ गये और द्वार बंद कर लिये गये। राणाजी हाथ में नंगी तलवार लिये रनवास में आये। उन्होंने रानियों को चेतावनी दी—शत्रु की सेना बहुत विशाल है। हमारे पास इतने सैनिक नहीं हैं कि हम उसे सामना करके परास्त कर सकें। अगर तुम्हें अपने धर्म की रक्षा करनी है, अपनी इज्जत रखनी है, तो तैयार हो जाओ। अग्नि की शरण में जाने के सिवाय धर्मरक्षा का अन्य मार्ग नहीं दिखाई देता!

राजपूत महिलाएँ भी वीरांगनाएँ थीं। वीरांगनाएँ न होतीं तो वीरप्रसविनी माताएँ कैसे बन सकती थीं? कायर स्त्रियाँ वीर सन्तान को जन्म नहीं दे सकतीं। वे अपने धर्म की रक्षा के लिए हँसती-हँसती प्राण दे सकती थीं। महाराणा ने उन्हें जब यह चेतावनी दी तो वह धर्मरक्षार्थ अग्निदेवता की शरण में जाने को तैयार हो गई।

तीन सौ रानियां अनुक्रम से चल आवे,
राणा को नमन कर अग्नि में जल जावे।

पद्मिनी अंत में पति को शीश नमावे,
अग्नि में स्नान कर अपना धर्म बचावे॥
दिया राजकुंवर को गुप्त मार्ग से काढ़ी ॥६॥

तीन सौ रानियाँ सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्रों से सुसज्जित हो गईं और ड्योढ़ी में खड़े राणाजी को नमस्कार कर-करके अनुक्रम से आग में जलने लगीं। सब के अन्त में पद्मिनी आई। उसने भी महाराणा से सदा के लिए विदाई ली। फिर अग्निकुण्ड के सामने खड़ी होकर कहने लगी—

अगनि अब रखियो लाज हमारी ॥ टेक ॥
हम सब बाला निपट विहाला, पति बिन परम दुखारी।
वेगि चिता धकि भस्म करो हम, आई शरण तिहारी ॥१॥
सुनरे यवन अधम चंडालो ! हृदय दियो तुम जारी।
साखी सुरपति फल पाओगे, भोगोगे दुःख भारी ॥२॥

भाइयो ! भारत का इतिहास बड़ा ही प्राणमय है। राजपूत नर-नारियों ने जो वीरता और त्यागशीलता दिखलाई है, संसार के इतिहास में उसकी कोई भी मिसाल नहीं मिलती। धर्म, देश की स्वाधीनता और कर्त्तव्य पालन के लिए प्राणों की बलि चढ़ा देना उनके बांये हाथ का खेल था;मगर ऐसी असाधारण ज्वलन्त वीरता को भी फूट राक्षसी निगल गई। राजपूतों की देशव्यापिनी शक्ति कभी संगठित नहीं हुई। यही नहीं बल्कि वह पारस्परिक संघर्ष में लगी और क्षीण हो गई। अनेक राजपूत राजाओं ने शत्रुओं को सहायता दी और देश के साथ द्रोह किया। इसी कारण वे सफल न हो सके। देश पर विजातीयों की सत्ता स्थापित हो गई।

हाँ तो यह राजपूत-रमणियाँ अग्निदेवता से कहने लगीं- हे पाविनी ! हम तुम्हारी गोदी में शरण चाहती हैं। तुम हमारे धर्म की रक्षा करना। हम धर्म को गँवा कर जीवित नहीं रहना चाहतीं। ज्वालामयी, हमें अंगीकार करो, शीघ्र ही भस्म कर दो। और यवनो ! नराधमो ! तुमने जो अत्याचार किया है, उसका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा।

इस प्रकार कहकर वे आग में कूद पड़ीं और भस्म हो गईं ! इधर राजकुमार गुप्त मार्ग से किले के बाहर चले गये।

फिर वीरों ने केसरिया भेष सजाया,
कई यवनों के हर प्राण, प्राण गंवाया।
आ गढ़ में बादशाह खाक देख पछताया,
फूलों के बदले खार हाथ में आया॥
ले सेना वापिस दिल्ली गया सिधारी॥१०॥

तत्पश्चात् सब राजपूतों ने केसरिया कपड़े पहने और घोड़ों पर सवार होकर, हथियार ले-लेकर दुश्मनों पर टूट पड़े। उन्हें मार-मार कर खत्म हो गए। जब विजयोन्माद में झूमता हुआ बादशाह रानी पद्मिनी को पाने की कामना से किले में प्रविष्ट हुआ तो उसे पता चला कि जिसके लिए इतना भीषण नरसंहार हुआ, वह तो सदा के लिए मेरी पहुँच से बाहर हो चुकी है !

किले का घोर भयावह दृश्य देखकर और जौहर की कठोरता का विचार करके बादशाह का दिल दहल उठा। उसकी आँखों में आँसू आ गए। वह मस्तक अपनी हथेली पर टेककर सोचने लगा- राजपूत जाति भी कैसी अनोखी है। यह जाति मरने से तो डरती

ही नहीं ! मरना इसके लिए खिलवाड़ है। अफसोस ! मैं क्या पाने आया था और क्या पल्ले पड़ा ! मैं फूल के लिए आया था, मगर काँटे हाथ लगे ! इतिहास लिखने वाले घृणा के साथ मेरे नाम का उल्लेख करेंगे। संसार मेरे नाम पर थूकेगा। मैं पापी माना जाऊँगा। कुरान के २८ वें पारे में लिखा है कि किसी औरत पर बलात्कार न करो; मगर मैंने नियत बिगाड़ी और कुरान को ठोकर मारी। अल्लाह मुझे दोज़ख में भेजेगा ! और इधर बदनामी के सिवाय कुछ भी हाथ न आया !

आखिर रंजीदा होता हुआ बादशाह अलाउद्दीन खिलजी देहली की तरफ चल पड़ा।

संवत तेरह सौ साठ का जिक्र सुनाया,
रह रहौ धर्म मर सब ही बायां आया।
गुरु हीरालाल प्रसादे चौथमल गाया,
दो हजार के साल चौमासा ठाया ॥
चित्तौड़गढ़ पर करी लावनी त्यारी ॥११॥

यह संवत् १३६० का वृत्तान्त है। असल में यह लावनी सतीत्वधर्म की रक्षा के लिए बनाई गई है। इसका सार यही है कि जैसे चित्तौड़ की सहस्रों राजपूत, रमणियों ने शीलधर्म को अपने प्राणों से भी अधिक मूल्यवान् समझा उसी प्रकार प्रत्येक बहन को शीलधर्म सर्वोपरि समझना चाहिए। शील रह गया तो सभी कुछ रह गया। शील न रह सका तो जीवन रखने से भी क्या लाभ है ? मनुष्य जीवन की सच्ची सार्थकता तो धर्म में ही है।

मैंने प्रारंभ में ही बतलाया था कि मनुष्य की विशेषता उसके

धर्मपालन में ही है। अतएव जिसका जीवन धर्म के सुनहरी रंग में रँगा हुआ नहीं है, जिसकी नस-नस में रुधिर की तरह धर्म नहीं रमा है, जो धर्म की मर्यादाओं का अनुसरण नहीं करता और जिसने धर्म के लिए ही अपने जीवन को नहीं समझा, उसका मनुष्य होना निरर्थक है।

भाइयो! और बहिनो! इस सचाई को समझो और धर्म को स्मरण रखकर ही प्रत्येक व्यवहार और वर्त्ताव करो तो भविष्य कल्याणमय बन जायगा और वर्त्तमान में भी आनन्द ही आनन्द होगा।*

२४-१-४६ }
सिरीयारी }

*सिरियारी (मारवाड़) के रावले (राजकीय अन्तःपुर) में प्रवचन।

सेठ सुदर्शन

स्तुतिः—
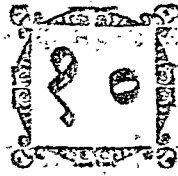
भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा—
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा—
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

भगवान् ऋषभदेव को भक्ति के वशीभूत होकर देव प्रणाम करते हैं। देवों के मस्तक पर मुकुट होते हैं और उन मुकुटों में मणि लगी रहती है। जब देव भगवान् के चरणों में नमस्कार करने के लिए मस्तक झुकाते हैं, तब उनके मुकुटों की मणियों पर भगवान् के

चरणों की-नखों की परछाई पड़ती है। वह परछाई इतनी उज्ज्वल और भास्वर होती है कि मणि भी चमकने लगती है। भगवान् के चरण पाप रूपी अंधकार के समूह को नष्ट करने वाले हैं। संसार रूपी सागर में गोता खाने वाले जीवों के आलम्बन हैं। जैसे किसी-किसी कुए में जंजीरें पड़ी होती हैं, जिससे अचानक कोई कुए में गिर जाय तो जंजीर के सहारे अपने प्राण बचा सके। इसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में पड़े हुए प्राणियों को भगवान् के चरण ही शरण हैं।

ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो! आत्मकल्याण के अनेक मार्ग बतलाये जाते हैं। कोई ज्ञान से मुक्ति होना मानते हैं, कोई कर्मयोग को आत्मोत्थान का उपाय कहते हैं, कोई क्रिया से मोक्ष कहते हैं और कोई भक्तिमार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाते हैं। मगर विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा का कल्याण करने के लिए इनमें से कोई भी एक मार्ग अकेला पर्याप्त नहीं है। ज्ञान से आत्मतत्त्व को पहचाना जा सकता है, उसके समीचीन स्वरूप को समझा जा सकता है, परन्तु उसकी उपलब्धि के लिए क्रिया तो करनी ही होगी। क्रियाविहीन कोरे ज्ञान से यथेष्ट लाभ नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसी प्रकार सही दिशा में क्रिया करने के लिए ज्ञान भी अपेक्षित है। अज्ञानी की क्रिया गलत मार्ग पकड़ लेती है तो कल्याण होना दूर रहा, उलटा अकल्याण हो जाता है।

इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया के साथ भक्ति भी अपेक्षित है। भक्ति से अपने आराध्य के प्रति प्रीति की उत्पत्ति होती है। वह प्रीति शनैः शनैः बढ़ती हुई आराध्य के साथ तद्रुपता उत्पन्न कर देती है। भक्त-जन भक्ति के आवेश में अपने आपको परमात्ममय अनुभव करने

लगते हैं और फिर सचमुच ही वह परमात्मा बन जाते हैं। अन्य मार्गों की अपेक्षा भक्ति का मार्ग सुगम है। प्रत्येक मनुष्य के लिए इस पथ पर चलना कठिन नहीं है। यद्यपि उसमें भी कभी-कभी कठिनाई आ सकती है, तथापि जब भक्त का हृदय भगवान् में लीन हो जाता है तो उसमें अपूर्व शक्ति आ जाती है, जो विस्मयजनक होती है।

प्राचीन काल के भक्तों की जीवनी पढ़ने से मालूम होता है कि उनके जीवन में अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो गया था। आजकल अनास्था का भाव उत्पन्न हो गया है, नास्तिकता बढ़ती जा रही है, लोग आत्मा और परमात्मा को भूलते जा रहे हैं। इस कारण आत्मा की शक्तियों को पहचानने और उन पर विश्वास करने में ही असमर्थ हैं तो उनको प्राप्त करने की तो बात ही अलग रही।

भाइयो! भक्ति के मार्ग पर चलने वाले ऐसी-ऐसी अचिन्त्य शक्तियाँ प्राप्त कर लेते हैं कि जिनकी आप आज कल्पना भी नहीं कर सकते। परन्तु भक्ति सच्ची होनी चाहिए। दिखावटी भक्ति, स्वार्थमयी भक्ति अथवा धूर्त्ततापूर्ण भक्ति, जिसे बगुलाभक्ति भी कहते हैं, आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के बदले मलीन और अपवित्र बनाती है। भक्त के हृदय में स्वार्थ और कपट नहीं होना चाहिए। जैसे अनाज के दाने में लगा हुआ घुन उसे खोखला बना देता है और वह दाना बो दिया जाय तो उससे अंकुर नहीं उत्पन्न हो सकता, इसी प्रकार स्वार्थ कपट आदि दुर्भावनाएं मानवहृदय का घुन हैं। यह घुन जिस हृदय में लगा होता, उसमें सच्ची भक्ति के अंकुर नहीं उग सकते। सच्ची भक्ति के लिए दृढ़ आस्था, निष्कपट वृत्ति, स्वार्थहीनता और अपने सच्चे स्वरूप को समझने, पाने और प्रकट करने की तीव्र लगन होनी चाहिए।

जिनके हृदय में भक्ति के रस का अखण्ड प्रवाह बहता है, जो भक्ति के मधुर रस का आस्वादन करने में समर्थ हैं, जिन्होंने भक्ति की शक्ति को समझ कर अपने चित्त में उसका विकास किया है, वे धन्य हैं, वे महान हैं, उन्होंने अपने जीवन को सार्थक बना लिया है।

मानव जीवन की सर्वोपरि सार्थकता भगवद्भक्ति में ही है। यही एक मात्र जीवन है, जिसमें भक्ति करके मनुष्य अपनी आत्मा को परमात्मा के पद पर पहुँचा सकता है। मगर इस तथ्य को वही मनुष्य समझ सकता है जिसके पूर्व जन्म के संस्कार अच्छे होंगे और इस कारण जिसकी आत्मा में कुटिलता नहीं होगी। उसी के हृदय में भक्ति का विमल स्रोत प्रवाहित होगा।

भक्ति की शक्ति से अनायास ही बड़े-बड़े काम सिद्ध हो जाते हैं। एक बार किसी विशेष घटना के कारण अर्जुन माली के शरीर में यक्ष प्रविष्ट था। अर्जुन माली हाथ में मुद्गर लिये नगर के बाहर घूमता था और जो भी नर या नारी मिल जाय, उसे यमलोक पहुँचा देता था। नगर में घोर आतंक छाया हुआ था। बाहर पैर रखने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी। नगर के बाहर जाना मौत के मुँह में जाना था। सर्वत्र भय ही भय फैला था। नगर के चारों फाटक बंद से रहते थे। राजा ने प्रजा को सावधान कर दिया था कि अर्जुन माली का उपद्रव जब तक दूर न हो जाय, तब तक कोई नगर के बाहर न निकले। भला किसे अपने प्राण प्यारे नहीं होते? कौन जानबूझ कर मरना चाहता है? लोग तो पहले से ही बाहर निकलना छोड़ चुके थे, फिर राजा की घोषणा ने तो लोगों का बाहर जाना एकदम रोक दिया। कभी कोई भूला भटका मिल गया तो अर्जुन माली के मुद्गर ने उसे मौत का शिकार बना दिया। सैकड़ों मनुष्य मौत के मुँह में पहुँच चुके थे।

ऐसे भयानक समय पर भगवान् महावीर नगर के बाहर पधारे वे एक मनोरम उद्यान में ठहर गये । नगरनिवासियों को भगवान् के आगमन का वृत्तान्त विदित हुआ; परन्तु किसी की हिम्मत न पड़ी कि वे उनके दर्शनार्थ जाएँ ।

उसी नगर में एक भक्त सेठ थे—सुदर्शन । सुदर्शन के अन्तःकरण में भगवान् महावीर स्वामी के प्रति अत्यन्त प्रगाढ़ भक्ति थी । भगवान् के पदार्पण का संवाद पाकर उनसे नहीं रहा गया ! घर बैठे गंगा आई और उससे लाभ न उठा पाया तो दुर्भाग्य ही समझना चाहिए । ऐसा विचार कर वे भगवान् के दर्शनार्थ जाने को तैयार हो गए । भक्ति के तीव्रतर उद्रेक में वे प्राणों के संकट को भूल गये । घर वालों ने बहुत समझाया, आग्रह किया, अनुरोध किया, अनुनय विनय की और जाने से रोका, मगर सुदर्शन सेठ ने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया । भक्ति के वशीभूत उनका हृदय भगवान् के दर्शन के लिए मचल रहा था । प्राणों का मोह उन्हें रोकने में समर्थ नहीं हो सका । वह घर से बाहर निकले और चल पड़े । नगर के लोग कहने लगे—सेठ की मौत आई है ! जान-बूझ कर मृत्यु का आलिंगन करने जा रहा है ! भगवान् के पास पहुँचने से पहले ही यम के पास पहुँच जायगा !

परन्तु सुदर्शन ! देखो, शान्त और गम्भीर भाव से परम-प्रभु महावीर स्वामी में लौ लगाये चला जा रहा है । उसका हृदय प्रभु के चरणों में है । उसे शरीर की चिन्ता नहीं, प्राणों की परवाह नहीं, मौत का डर नहीं ।

आखिर भक्त सुदर्शन नगर के बाहरी भाग में जा पहुँचा । अर्जुन तो ताक में फिर ही रहा था । सुदर्शन सेठ पर उसकी दृष्टि पड़ी और अपना मुद्गर सँभाल कर उसकी ओर लपका । नगर के

भीतर मकानों की छत पर चढ़कर लोग देख रहे थे। वे हाय-हाय करने लगे। उन्होंने समझा-सुदर्शन सेठ अब मौत के शिकार हुए! उनका कचूमर निकलने में अब देर नहीं है! दर्शकों के दिल दहलने लगे! आँखों के आगे अँधेरा छा गया!

अब अर्जुन माली अपना मुद्गर उभारे सुदर्शन के सन्निकट आ। सुदर्शन ने उसे देखा। वह उसी जगह कायोत्सर्ग करके खड़ा हो गया। उसकी आत्मा भगवान् के ध्यान में तल्लीन हो गई। वह देहातीत दशा की अनुभूति करने लगे। जिस देह को खतरा था, वही उसने अपनी ओर से त्याग दिया। फिर डर काहे का था?

अर्जुन आया। उसने प्रहार करने के लिए मुद्गर ऊपर उठाया, मगर वह उठा ही रह गया। नीचे न आ सका। सुदर्शन की भक्ति ने अद्भुत चमत्कार उत्पन्न किया। यक्ष उसके शरीर से बाहर निकल कर भाग गया और अर्जुन बेहोश होकर गिर पड़ा।

सुदर्शन ने यह दशा देखकर कायोत्सर्ग समाप्त किया और अर्जुन को उठाकर सँभाला। इधर सुदर्शन उसकी परिचर्या कर रहा था, उधर नगरनिवासी चकित और विस्मत हो रहे थे! वह सोच रहे थे कि अकस्मात् यह परिवर्त्तन कैसे हो गया! कोई-कोई कहने लगे-धन्य हैं भक्त सुदर्शन! धन्य है सुदर्शन की भक्ति! किसी ने कहा-भगवान् की महिमा अपरम्पार है!

सुदर्शन के उपचार करने पर अर्जुन माली को होश आ गया। तब वह भी उनके साथ ही भगवान् की वन्दना के लिए गया। भगवान् की अमृतमयी वाणी सुनकर संसार से उसे वैराग्य हो गया। उसी समय वह मुनि बन गया।

इस घटना से समझा जा सकता है कि भक्त कैसा होना चाहिए और भक्ति कैसी होनी चाहिए ? समय आने पर भक्त कभी पीछे पैर नहीं रखता। वह भक्ति के वश होकर अपने आपको भूल जाता है और अपने आराध्य के प्रति एकनिष्ठा प्रीति रखता है। एकनिष्ठा भक्ति के विषय में ठीक ही कहा है:—

भक्ति भवताप मिटाती है,
भक्ति भव-सिंधु तिराती है।
भगवान् भक्त में भेद नहीं;
भक्ति भगवान् बनाती है ॥

सच्ची भक्ति संसार के संताप का विनाश करती है और जन्म-मरण के दुःखों को दूर करके अनन्त अक्षय असीम अव्याबाध सुख को प्राप्त कराती है। भक्ति वास्तव में भक्त को भगवान् बना देती है। गौतम स्वामी भगवान् महावीर के परमभक्त शिष्य थे तो उन्हें भी वह पद प्राप्त हुआ जो भगवान् को प्राप्त हुआ था। वे स्वयं तीन लोक के पूज्य और अजर-अमर हो गये।

भक्ति ऐसी उच्च श्रेणी की वस्तु है। अगर हृदय में सच्ची भक्ति जागृत होनी चाहिए। भक्ति को जागृत करने का सच्चा उपाय है-अविचल विश्वास, अखण्ड आस्था। सच्चा और पक्का श्रद्धान होने पर ही भक्ति भाव जागृत होता है। सुदृढ़ आस्था होने पर संसार-सागर से पार होने में क्या देर लगती है !

चन्दनबाला चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन की लड़की थी। उस राजा की तीन रानियाँ थीं-एक धारिणी, दूसरी पद्मावती और तीसरी अभया। धारिणी रानी बड़ी जबर्दस्त थी। उसने शील की रक्षा के लिए अपने शरीर का त्याग कर दिया था। मरना कबूल

किया, पर शील को खोना कबूल नहीं किया। दूसरी पद्मावती रानी भी बड़ी पुण्यवती हुई है। वह राजा करकण्डू की माता थी। सोलह सतियों में उसकी गणना की गई है। उसका चरित अत्यन्त मांगलिक माना गया है। कोई स्वर्गगमन करने वाला होता है तो उसे आज भी पद्मावती का चरित सुनाया जाता है।

तीसरी रानी का नाम अभया था। इसका चालचलन खराब था। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि रत्नों की खान में पत्थर भी होते हैं।

सुदर्शन दृढ़ धर्मी बारह व्रतों के धारक श्रावक थे। पुण्योदय से उनकी पत्नी भी बड़ी ही धर्मशीला, पतिव्रता और विवेकवती थी। गृहस्थ को धर्मशीला और अनुरूप पत्नी मिल जाना भी पुण्य का उदय ही समझना चाहिए। पत्नी और पति समान धर्म के अनुयायी होते हैं, उनके स्वभाव में अनुरूपता होती है तो परिवार में शान्ति रहती है। सन्तान पर भी धर्म के अच्छे संस्कार डाले जा सकते हैं। सुदर्शन पुण्यशाली पुरुष थे, अतएव उन्हें अर्हन्त भगवान् की परम भक्त पत्नी मिली थी। उनके पाँच पुत्र थे और वे भी बड़े विनीत और सुशील थे। नीतिकारों का कथन है कि—

सुपुत्रो यः पितुर्मातुर्भूरिभक्तिसुधारसैः ।
निर्वापयति सन्तापं, शेषास्तु कृमिकीटकाः ॥

वास्तव में वही सपूत गिना जाता है और उसी का जन्म सार्थक है, जो अपनी प्रबल भक्ति रूपी अमृत के रस से माता-पिता के संताप को शान्त करता है। जिसने जन्म लेकर माता पिता को शान्ति न पहुँचाई, वह सपूत नहीं। ऐसे पुत्र कीड़ों-मकोड़ों की श्रेणी में गिनने योग्य हैं। अतएव—

मातरं पितरं चैव, साक्षात्प्रत्यक्षदेवताम् ।
मत्वा गृही निषेवेत, सदा सर्वप्रयत्नतः ॥

साधु हो जाने पर संसार के सभी संबंधों का त्याग हो जाता है; साधु होना एक प्रकार से नवीन जन्म ग्रहण करना है। अतएव उस अवस्था की बात अलग है। परन्तु जब तक मनुष्य गृहस्थावस्था में है और संसार के संबंधों का त्यागी नहीं बना है तब तक उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने माता-पिता को साक्षात् देवता स्वरूप मानकर अपनी समस्त शक्ति के साथ उनकी सेवा करे। वैदिकधर्म के शास्त्र में भी कहा है:—

मातृदेवो भव,
पितृदेवो भव,
आचार्यदेवो भव।

अर्थात्-माता देवता है, पिता देवता है और शिक्षागुरु देवता है।

यह गृहस्थ का परम नैतिक कर्त्तव्य है कि जिन्होंने उसके जीवन के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, जिन्होंने भाँति-भाँति के कष्ट सहन करके पालन-पोषण एवं संवर्धन किया है, उनके उपकारों को भूलकर कृतघ्न न बने। हमारे यहाँ श्रावक के गुणों में कृतज्ञता को भी इसीलिए स्थान दिया गया है। जो कृतघ्न है, अपने परमोपकारियों के प्रति भी जिसे सहानुभूति नहीं है जो उनके प्रति भक्तिभाव नहीं रखता, वह सच्चा श्रावक नहीं बन सकता।

सुदर्शन स्वयं धर्मनिष्ठ था और उनकी पत्नी भी धर्मपरायणा थी। उनके परिवार के वातावरण में धर्म की प्रधानता थी। ऐसी

स्थिति में लड़कों को उपदेश की आवश्यकता ही नहीं थी। वे बिना उपदेश, माता-पिता के उच्च व्यवहार को देख देखकर स्वयं ही, विनीत, श्रद्धालु और धर्मात्मा बन गये थे।

सन्तान को सभी सदाचारी देखना चाहते हैं। कोई चाहता है कि हमारी सन्तान दुराचारी बने? किसकी इच्छा नहीं होती कि हमारी सन्तति यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करे तथा हमारे कुल की कीर्त्ति बढ़ावे? परन्तु सब की इच्छा पूरी नहीं होती। इसका मुख्य कारण यही है कि वे स्वयं ऐसा व्यवहार नहीं करते कि जिसे देखकर और आदर्श मान कर सन्तान ऐसी बन सके। बात बात में झूठ बोलने वाले माता पिता की सन्तान हरिश्चन्द्र कैसे बन सकती है? सन्तान बहुत कुछ अपने माता-पिता से ही सीखती है।

हाँ, तो सुदर्शन और उनकी पत्नी के सद्व्यवहार का प्रभाव उनकी संतान पर भी पड़ा और वह भी सदाचार परायण और धर्म प्रेमी बन गई।

सुदर्शन चम्पा नगरी का बड़ा सेठ था। उसने धन-संपत्ति को हीन और धर्म को महान् समझा था। क्योंकि धन-सम्पत्ति तो अधिक से अधिक इसी भव तक साथ देती है परन्तु धर्म परभव में भी साथ देता है। यहाँ लाखों और करोड़ों का धन है, राज्य है, साम्राज्य है और विपुल वैभव है, परन्तु शरीर त्यागने के पश्चात् क्या है? कुछ भी साथ नहीं जाता। कानी कोड़ी भी काम नहीं आती! सब का सब यहीं धरा रहता है! साथ जायगा तो धर्म या अधर्म ही।

भाइयो! जरा विचार करो कि उस समय तुम्हारी सहायता करने वाला कौन होगा? स्मरण रक्खो, धन-सम्पत्ति को साथ ले जाने का एक ही उपाय है और वह यह कि उसका दान कर दो,

उसे परोपकार में लगा दो, खैरात कर दो ! सुदर्शन सेठ तत्त्व का ज्ञाता था। अतएव उसका जीवन सब प्रकार से उन्नत था। वह दानशील था, परोपकारी था और इसी में अपना कल्याण मानता था।

सुदर्शन सेठ और राजपुरोहित में घनिष्ट मैत्री थी। दोनों साथ-साथ वायुसेवन करने जाया करते थे। एक दिन पुरोहितजी नहीं आये तो सुदर्शन ही उधर जा पहुँचे। घर पर आवाज दिलवाई तो पता चला कि वह घर पर नहीं हैं। सुदर्शन उसी समय लौट आए। बाद में दुकान पर दोनों का मुकाबिला हुआ। सेठजी ने पूछा-पुरोहितजी आज कहाँ चले गये थे? पुरोहितजी बोले-एक आवश्यक कार्य से बाहर जाना पड़ा था।

एक दिन दोनों बग्घी में बैठकर पुरोहितजी के मकान के पास हो कर निकले। पुरोहितानी की नजर उन पर पड़ गई। सुदर्शन अतिशय सुन्दर थे। उनके सौन्दर्य को देखकर पुरोहितानी की नियत बिगड़ गई। उसके चित्त में विकार उत्पन्न हुआ। वह सुदर्शन से मिलने की इच्छा करने लगी।

इधर सेठ सुदर्शन पक्के शीलवान् थे। वे शीलधर्म पर इतने दृढ़ थे कि आकाश से साक्षात् अप्सरा ही क्यों न उतर आए, उन्हें शील से विचलित नहीं कर सकती थी।

भाइयो! हम भी सुदर्शन जैसे धर्मनिष्ठ पुरुषों की ही तारीफ करते हैं। धर्म की दृष्टि से जो दिवालिया हैं, उनकी तारीफ नहीं करते।

एक बार पुरोहितजी को कहीं बाहरगाँव जाना पड़ा। उनकी पत्नी ने पूछा-कितने दिन लगेंगे आपको? पुरोहितजी बोले-दो दिन तो लग ही जाएँगे। संभव है एक दिन ज्यादा भी हो जाय।

पुरोहितानी मन में कहने लगी--और अधिक दिन लग जाएँ तो और भी अच्छा है ! परन्तु प्रकट में बोली--अच्छी बात है, जल्दी लौटना ।

पुरोहितजी चले गये । उनके जाने के बाद पुरोहितानी ने सोलहों शृंगार किये और पलंग पर जाकर सो गई । उसने अपनी दासी से कहा--तू सेठ सुदर्शन के पास जा । उनसे कहना पुरोहितजी बाहर जा रहे थे, किन्तु अचानक बीमार हो गए हैं और आपसे मिलने के लिए अत्यन्त उत्कंठित हैं ।

दासी गई । उसने सेठजी से वही सब कह दिया जो पुरो--हितानी ने कहलवाया था । बेचारे सेठ को क्या पता था कि क्या षडूयंत्र रचा गया है ? किसी को किसी के मन का क्या पता है ?

कुण जाणे पराया मन की;
मनकी तन की लगन की रे ॥टेक॥

सेठ सुदर्शन स्वयं निष्पाप थे । वह किसी के पाप की निरा-धार कल्पना नहीं कर सकते थे । अतएव वह पुरोहितजी से मिलने के लिए उसी समय तैयार होकर उनके घर पहुँचे । ज्यों ही वह मकान में दाखिल हुए, दासी ने भीतर से दरवाजा बन्द कर दिया ।

सेठ ने द्वार बन्द करने का कारण पूछा तो दासी ने कहा—कुत्ता बिल्ली के घुस जाने का भय है । दासी सेठ को उसी कमरे में ले गई, जिसमें पुरोहितानी दगा करके सो रही थी । सेठ के अंदर घुसते ही वह उठ कर बैठ गई और नाना प्रकार के हाव, भाव और कुचेष्टाएँ करने लगी । सुदर्शन सेठ समझ गये कि मामला कुछ और है; मेरे साथ दगा हो गया है ।

पुरोहितानी ने भरसक चेष्टा की। अपने सभी शस्त्र आजमा लिये, किन्तु सेठजी चुपचाप ही रहे—बोले नहीं। अन्त में वह कहने लगी—बात क्या है? आप हँसकर बोलते क्यों नहीं है?

सुदर्शन के सामने बड़ा संकट उपस्थित था। ऐसे अवसर पर किसी भी पुरुष का अपने शील पर दृढ़ रहना बहुत कठिन है। कहा जाता है कि दुःख रूप प्रतिकूल परीषह सहन करना उतना कठिन नहीं है, जितना प्रलोभन रूप अनुकूल परीषह को सहन कर लेना। सुदर्शन सेठ के सामने आज घोर प्रलोभन था। नवयुवती स्त्री, शृंगार किये, एकान्त में वासना पूर्त्ति के लिये अनुनय विनय कर रही है और सुदर्शन सुमेरु की तरह अपने धर्म पर अचल अटल हैं। सचमुच यह धर्मनिष्ठा अत्यन्त सराहनीय है।

सुदर्शन को छुटकारे का कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। जब पुरोहितानी से पिण्ड छुड़ाना कठिन हो गया तो उन्हें सहसा एक विचार आया। उन्होंने उससे कहा—तुम्हारे हाव-भाव और तुम्हारा सौन्दर्य ऐसा है कि कोई पुरुष अपने ऊपर काबू नहीं रख सकता। किन्तु मेरे लिए वह सब वृथा है, क्योंकि—

पुरोहितानी—पूरी बात कह डालिए। संकोच न कीजिए।

सुदर्शन—आगे की बात स्वयं समझ लो। मैं तुम्हारे काम का नहीं हूँ। मेरे समक्ष तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ है।

पुरोहितानी ने समझ लिया कि सुदर्शन में पुंस्त्व नहीं है। यह तो हींजड़ा है!

यह समझना सुदर्शन के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उन्हें छुटकारा मिल गया। वह तत्काल जान बचा कर वहाँ से चल पड़े। पुरोहितानी मन ही मन अतिशय लज्जित हुई और पश्चात्ताप करने लगी।

दो दिन के बाद पुरोहितजी आये। सेठजी से मिले। परन्तु सेठजी ने उनसे इस घटना का कोई जिक्र नहीं किया। सोचा--मेरा सदा के लिए पिण्ड छूट गया है, अब पुरोहितानी की बुराई न करना ही उचित है। इस घटना का उल्लेख करने से दोनों का जीवन कटुक बन जायगा।

कितनी उदारता ! कैसी विचारशीलता ! ऐसे होते हैं महावीर के धर्म के अनुयायी श्रावक !

उधर पुरोहितानी के चित्त में चिन्ता की आग सुलग रही थी। वह भय के कारण काँप रही थी। वह समझती थी कि सुदर्शन ने मेरे पति के सामने इस घटना का जिक्र किया तो गजब हो जाएगा। मेरी जिन्दगी दूभर हो जायगी ! किन्तु जब दो महीने बीत गये और कोई नवीन घटना सामने न आई तो उसे धैर्य बँधा। उसने सोच लिया कि सेठ ने वह बात दबा दी है !

कुछ दिनों बाद की बात है। उसी नगर के राजा की रानी अभया एक दिन अपनी दासियों के साथ उद्यान की ओर जा रही थी। पुरोहितानी भी साथ थी।

उधर सेठ सुदर्शन की पत्नी भी अपनी दासियों के साथ बाहर निकली थी। वह रथ में बैठी जा रही थी। उसके आसपास सुन्दर वस्त्रों और आभूषणोंसे सुसज्जित तथा घोड़ों पर सवार उसके पाँचों पुत्र चल रहे थे। उन्हें देखकर रानी को प्रसन्नता हुई। उसने पूछा--यह पाँच पुत्र किसके हैं ? और यह रथ में बैठी रमणी कौन है ?

एक दासी, जो उनसे भलीभाँति परिचित थी, बोली--महा-रानीजी, यह पाँचों सुन्दर पुत्र सेठ सुदर्शन के हैं और यह उनकी पत्नी है। यह सब वायुसेवन के लिए जा रहे हैं।

दासी के द्वारा दिया हुआ परिचय पुरोहितानी ने भी सुना। मगर पुरोहितानी उसे सुनकर चकित रह गई। उसके चेहरे पर कुछ ऐसे विशिष्ट भाव उदित हुए कि रानी अभया को कुछ रहस्य प्रतीत हुआ। तब रानी ने कहा-पुरोहितानीजी, क्या बात है? तुम्हारे चेहरे पर यह सलवट कैसे पड़ गए?

पुरोहितानी—कुछ भी तो नहीं।

रानी बड़ी चालाक थी। पुरोहितानी के मनोभाव उससे छिपे नहीं रहे। अतएव उसने कहा-पुरोहितानीजी, मेरे आगे तुम कुछ नहीं छिपा सकोगी। मुझसे सच्ची-सच्ची बात कहनी ही पड़ेगी।

पुरोहितानी—मेरे मन में आया कि सेठानी दुराचारिणी है। यह पाँचों लड़के सेठ के नहीं हैं। किसी अन्य पुरुष से उत्पन्न हुए हैं।

रानी—यह तुम्हें कैसे पता चला?

पुरोहितानी—मैं भलीभांति जानती हूँ।

रानी—मगर कैसे?

पुरोहितानी—सेठ की परीक्षा की जा चुकी है। उसने स्वयं कहा है।

रानी—तुम ना समझ हो! मर्द की चालाकी में आ गईं।

पुरोहितानी—अच्छा यही सही, तुम कभी बुलाकर देख लेना।

रानी—अच्छी बात है। एक वर्ष के भीतर-भीतर सेठ को महलों में न बुला लिया तो मेरा नाम अभया नहीं!

रानी वायुसेवन करके महल में पहुँची। वह सोचने लगी-महल में पहरे की व्यवस्था इतनी सख्त है कि पुरुष की तो बात दूर,

कुत्ता भी प्रवेश नहीं कर सकता। फिर उस सेठ को बुलाऊँ तो कैसे बुलाऊँ ?

इस विश्व के प्राणी-जगत् में मनुष्य सब से अधिक बुद्धि-शाली है। बुद्धि एक शस्त्र है। उसका सदुपयोग भी किया जा सकता है और दुरुपयोग भी। भाग्यवान् की बुद्धि अच्छे रास्ते पर जाती है और अभागे की बुरी राह पर। उसी बुद्धि से धर्म कार्य भी किया जा सकता है और उसो से प.पों का संचय भी किया जा सकता है। धर्म करे तो स्वर्ग और मोक्ष पाता है, अधर्म करे तो नरक कुण्ड में पड़ कर दुःख भोगता है। मनुष्य के वही हाथ दूसरे की रक्षा करने के लिए, डूबते को उबारने के लिए, और दान देने के लिए होते हैं और उन्हीं से दूसरों को थप्पड़ लगाई जा सकती है, दूसरे को धक्का देकर गड्हे में गिराया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के पास जो शक्ति है, उससे वह लाभ भो उठा सकता है और हानि भी उठा सकता है। यह उसकी सद्बुद्धि और दुर्बुद्धि पर अवलम्बित है।

भाइयो ! तुम्हें यह मुख प्रभु का भजन करने को मिला है। इससे भजन करोगे तो कल्याण होगा और यदि भजन न करके दूसरों को गाली दोगे तो जूते खाने पड़ेंगे। इसी प्रकार दो हाथ मिले हैं तो इनसे दान दो, दुखियों को दुःख से बचाओ। ऐसा न करोगे और दूसरे को तलवार से मारोगे तो स्वयं मरना पड़ेगा। कान भगवान् की वाणी सुनने को मिले हैं और समग्र शरीर तपस्या करने, धर्म का आचरण करने और आत्मा का उत्थान करने के लिए है। यही इसका सदुपयोग है। मगर कितने ही लोग ऐसे हैं जो संवत्सरी का भी उपवास नहीं करते।

एक पुरुष कभी उपवास नहीं करता था। एक बार संवत्सरी के पूर्ववर्त्ती दिन, उसकी पत्नी ने उससे कहा—आज खूब तृप्त होकर

चूरमा वाटी जीमो और कल उपवास कर लेना। स्त्री बड़ी भाग्यवान थी। वह अपने पति को भी सच्चे धर्म में प्रवृत्त करना चाहती थी। वास्तव में आदर्श पत्नी वही कही जा सकती है जो अपने पति की धर्मसहायिका होती है। केवल विषयभोग की पुतली बनना और काम वासना को चरितार्थ करना पत्नी का आदर्श नहीं है। शास्त्र में आदर्श पत्नी को 'धम्मसहाया' कहा है। पत्नी, पति की सहायता से और पति, पत्नी की सहायता से अपने धर्म का पालन करें, तभी गृहस्थाश्रम सफल समझा जा सकता है।

तो उसकी पत्नी ने संवत्सरी से एक दिन पहले उसे रोता हुआ चूरमा और हँसती हुई वाटियाँ जिमाई और मावा (खोया) भी खिलाया। दूसरे दिन आग्रह करके पड़ौसी के साथ उसे व्याख्यान सुनने भेजा। उसने कहा—इन्हें साथ लेते जाओ। आगे बिठलाना और उपवास कराना। पड़ौसी साथ ले गया और आगे बिठलाया।

मुनिराज धर्मोपदेश देने लगे। तपस्या का प्रसंग चला। मुनिराज ने बीच में कहा—उपवास करने वाले खड़े हो जाएँ।

औरों की देखा देखी उसे भी खड़ा होना पड़ा। उपवास कर लिया। करीब तीन बजे स्थानक से लौट कर घर पहुँचा। थोड़ी देर विश्राम कर चुकने पर संध्या के समय उसकी स्त्री ने कहा—आज पौषध करने के लिए स्थानक में ही जाइये।

पुरुष ने कहा—न मैं जाऊँगा, न तुम्हें जाने दूँगा। मैं भूख से मर जाऊँगा। मेरे लिए जल्दी ही पारणा तैयार करना।

यह कह कर वह बिस्तर बिछा कर सो गया। स्त्री प्रतिक्रमण करने चली गई। वह प्रतिक्रमण करके रात्रि के समय लौटी तो उसकी नींद खुल गई। वह बोला—अब कितनी रात बाकी है?

पत्नी ने कहा—अभी हिरणी आ रही है। एक नींद और ले लो।

लाचार वह फिर सो गया। मगर भूखे को गहरी और लंबी नींद कहाँ? पिछली रात में वह उठ बैठा। उस समय कोई लड़की ससुराल जा रही थी। उसके रोने की आवाज उसके कानों में पड़ी। तब वह कहने लगा—देख ले, एक उपवास करने वाला तो मर गया। अब मेरे मरने में भी ज्यादा देरी नहीं है।

पत्नी-कैसे जाना कि उपवास करने वाला मरा है?

पुरुष-नहीं तो क्या खाने वाले मरते हैं?

पत्नी-एक दिन उपवास करने वाले कभी नहीं मरते।

पुरुष-ठीक है, फिर तुझे ही पछताना पड़ेगा।

पत्नी-थोड़ी धीरज रक्खो। सवेरा हुआ ही चाहता है।

थोड़ी देर बाद फिर किसी के घर से बच्चे के रोने की आवाज़ आई। तब वह फिर बोला-देख लिया, कोई दूसरा उपवास करने वाला भी मर गया है!

ज्यों-त्यों, बड़ी कठिनाई से सूर्योदय हुआ। पत्नी ने चटपट पारणा की सामग्री तैयार की और प्रेम से पति को जिमाया। तब कहीं उसे सन्तोष हुआ।

ऐसे लोगों को क्या कहना चाहिए? रोज़-रोज ठूस-ठूँस कर खाने वाले जो लोग वर्ष में एक दिन भी उपवास नहीं कर सकते, उन्हें 'अन्नकीट' के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? उन्हें विचार करना चाहिए कि वे आखिर किस उद्देश्य से शरीर का पालन पोषण करते हैं? इस प्रकार खाने के लिए ही जीने वाले लोगों का जीवन सर्वथा निरर्थक है।

भाइयो ! इस शरीर को कितना ही खिलाओ-पिलाओ, आखिर तो इसे छोड़ कर जाना होगा। अगर शरीर से कुछ धर्म-कार्य कर लोगे तो यह सार्थक हो जायगा। इस शरीर को पाकर तपस्या करोगे तो निहाल हो जाओगे।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को सब प्राणियों की अपेक्षा जो श्रेष्ठ शक्ति प्राप्त हुई है, उसे उसका सदुपयोग करना चाहिए। उसे अपनी बुद्धि से तत्त्व का समीचीन चिन्तन करना चाहिए, आत्मकल्याण के पथ की गवेषणा करनी चाहिए और समझदारी के साथ उसी पथ पर अग्रसर होना चाहिए। किन्तु खेद है कि अधिकांश लोग ऐसा नहीं करते। अभया रानी भी ऐसा न करने वालों में ही थी। यही नहीं, उसने अपनी बुद्धि-शक्ति का दुरुपयोग किया। वह इसी विचार में तल्लीन रहने लगी कि सेठ सुदर्शन को किस प्रकार राजमहल में लाया जाय और किस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति की जाय ?

आप जानते हैं कि जो जैसा होता है, वैसे ही साथी भी खोज लेता है। अभया रानी की कुछ दासियाँ भी उसी के समान थीं और वही उसकी अन्तरंग सखी थीं। एक दिन रानी ने अपनी इन्हीं सखियों के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया। उनमें से एक बड़ी घाघ थी। उसने युक्ति बतलाते हुए कहा—पहले आप किसी कुम्भार से सेठ के आकार की सात मूर्त्तियाँ बनवाइए। फिर शेष काम मैं कर लूँगी !

कुम्भार को मूर्त्तियाँ बनाने का आदेश दिया गया और वे बनकर आ गईं। दासी उन्हें स्याने में रखकर ड्योढ़ी में लाई तो सिपाहियों ने स्याने को रोक दिया। उन्होंने कहा—पहले दिखलाना होगा कि स्याने में कौन है ?

पहले ही निश्चय किया जा चुका था कि सिपाही अगर अड़ जाए तो मूर्त्ति को वहीं फोड़ दिया जाय। ऐसा करने पर वे फिर नहीं रोकेंगे। ऐसा ही किया गया। मूर्त्ति वहीं पत्थर पर पटक कर फोड़ दी गई।

सिपाही भयभीत हो गए। वे सोचने लगे--इस घटना को सुनकर महारानीजी कुपित हो जाएँगी तो आजीविका से भी चले जाएँगे! मगर भाग्य से ऐसा नहीं हुआ।

दूसरे दिन दूसरी मूर्त्ति म्याने में रख कर ले जाई गई। आज पहले दरवाजे वाले ने नहीं रोका, किन्तु दूसरे दरवाज़े के पहरेदारों ने उसे रोक दिया। दासियों ने वहाँ भी वही किया। मूर्त्ति को फोड़ दिया गया।

इसी प्रकार सात दरवाजों पर सात मूर्त्तियाँ फोड़ दी गईं। कुल सात ही द्वार थे। वे सब समझ गये कि हमने व्यर्थ रोकटोक की और व्यर्थ मूर्त्ति तुड़वाई! उन्हें किसी अज्ञात अमंगल का भी भय सताने लगा।

मगर रानी अब निश्चिन्त थी। उसे विश्वास हो गया कि अब कोई रोकटोक करने वाला नहीं है।

कार्त्तिक मास में एक वनमहोत्सव होता था। सेठ सुदर्शन ने उस दिन घर पर रह कर पौषध करने का निश्चय किया था। राजा और रानी तथा नगरनिवासी जन उद्यानविहार करने के लिए नगरी के बाहर उद्यान में गये। रानी ने पता लगा लिया था कि आज सुदर्शन सेठ अपने घर पर ही हैं। अतः उद्यान में आकर वह अचानक ही झूठ-मूठ बेहोश हो गई। उसने राजा से कह दिया- मेरी तबियत खराब है।

राजा ने चिन्तित होकर पूछा—प्रिये ! अस्वस्थता का क्या कारण है ?

रानी—मैं प्रतिदिन देवता का पूजन किया करती थी, किंतु आज नहीं कर सकी। शायद इसी कारण मेरा जी खराब हो गया है। मैं अभी महल में जाना चाहती हूँ और वहाँ जाकर देवता की पूजा करूँगा। आज्ञा दीजिए, मैं लौट जाऊँ।

राजा ने उसी समय रानी को महल में भेज दिया। वहाँ आकर उसने सोलह शृंगार किये और दासियों से कहा—शीघ्र ही 'देवता' को ले आओ। आज पूजा करने का यह उपयुक्त अवसर है।

दासियाँ सेठ के पास पहुँचीं। उन्होंने कहा—आपको महारानीजी ने याद किया है !

सेठ सुदर्शन उस समय धर्मध्यान में लीन थे। अतएव उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के पश्चात् दासियों ने उन्हें किसी प्रकार म्याने में बिठला दिया और महल में ले आईं। दरवाजे वालों ने म्याने को रोका नहीं।

सेठ अब भी धर्मध्यान में लीन थे। रानी ने अपनी सारी कलाएँ आजमा लीं। हर प्रकार के हाव-भाव दिखलाए। बड़े से बड़े प्रलोभन दिये। अपनी ओर आकर्षित करने में कोई कसर न रक्खी। मगर सेठ सुदर्शन ध्यान से विचलित न हुए। उनके हृदय के किसी भी कोने में लेश मात्र भी विकार का प्रादुर्भाव नहीं हुआ।

इसे कहते हैं ध्यान ! जिसने जीवन में एक बार भी ऐसा ध्यान लगा लिया, समझ लो उसका बेड़ा पार हो गया ! उसने परमात्मा से भेंट करली।

अभिमानी प्राणी ! ध्यान लगाओ ऐसा ईश से ॥ टेक ॥

हे मन ! मालिक से ऐसा ध्यान लगा कि एक रंग हो जाय। ध्यान आत्म शुद्धि का मुख्य साधन है। ध्यान से आत्मा परमात्म-भाव की अनुभूति करने में समर्थ बनता है। कहा भी है:—

ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं निबन्धनम् ।
तदेव दुरित व्रातगुरुकक्षहुताशनम् ॥

अर्थात्—ध्यान ही मोक्ष का मुख्य साधन है और ध्यान ही पापों के समूह रूपी कक्ष को भस्म करने के लिए आग के समान है।

अनादिविभ्रमोद्भूतं, रागादितिमिरं घनम् ।
स्फुटत्याशु जीवस्य, ध्यानार्कः प्रविजृम्भितः ॥

जीव अनादिकाल से मोह और अज्ञान से आवृत्त हैं। इन आत्मिक विकारों के कारण आत्मा रूपी आकाश में राग-द्वेष आदि का घोर अंधकार व्याप रहा है। उसका विनाश तभी होता है, जब ध्यान रूपी सूर्य का प्रखर प्रकाश प्रकट होता है। ध्यान रूपी सूर्य के अभाव में रागादिरूप तिमिर नहीं हट सकता।

सुदर्शन सेठ परमप्रभु महावीर के परमभक्त श्रावक थे। उन्हें ध्यान की महिमा भलीभाँति विदित थी। अतएव उनका ध्यान अखण्ड बना रहा। यह देखकर अभया रानी बोली—

न तानो ज़्यादा कृपा करो अब, बड़ा तुम्हारा लिहाज़ होगा।
अगरचे राज़ी करोगे मुझको, सफल तुम्हारा भी काज होगा ॥

रानी कहती है कि मेरी बात को मान लोगे तो तुम्हारी बहुत इज्जत बढ़ जाएगी। मैं तुम्हें चम्पा का राजा बना दूंगी और मैं तुम्हारी रानी बन कर रहूँगी। राज्य का सम्पूर्ण कोष तुम्हारे अधिकार में होगा। तुम्हारे लिए इसी पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आएगा।

इतने प्रलोभन भी सुदर्शन को धर्म से विचलित न कर सके तो रानी कुछ झुंझला उठी, खीझ उठी। उसने धमकी का आश्रय लिया। बोली—मेरी बात न मानोगे तो मैं नाराज हो जाऊँगी और तुम्हें शूली पर चढ़वा दूंगी। सारे संसार में बदनामी उठाओगे और प्राण भी गँवाओगे। प्राण प्यारे हों और आनन्दपूर्वक राजसी सुख भोगना चाहते होओ तो मेरी बात मान लो।

धर्मधीर सुदर्शन अब भी मौन थे। वह सोच रहे थे—रानी प्राणों की धमकी दे रही है, पर उनसे मोह है किसको ? आज रख लूँगा तो क्या सदा बने रहेंगे ? वह तो एक न एक दिन जाने ही वाले हैं। फिर प्राणों के मोह में धर्म को कैसे त्याग सकता हूँ ? धर्म चला गया तो जीवन रख कर भी क्या करना है ? सुदर्शन की टेक थी—

जाने न दूं धरम को, चाहे प्राण तन से निकलें।
निकले तो एक निकले जिनवर का नाम निकले ॥

जिंदगी भले आज ही समाप्त क्यों न हो जाय, धर्म का परित्याग नहीं करूँगा। सूर्य पूर्व से पश्चिम में उदित होने लगे तो भले होने लगे, सुदर्शन अपने शील में धब्बा नहीं लगने देगा।

रानी के सभी शस्त्र समाप्त हो गये। सुदर्शन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब निराश रानी के अन्तःकरण में प्रतिहिंसा

का भाव जागृत हुआ। उसने अपने कपड़े फाड़ने आरम्भ किये और अंग-अंग पर नाखूनों की खरौंच बना लीं। इसके बाद उसने चीख पुकार शुरू की।

रानी का चीखना-चिल्लाना सुनकर तत्काल अन्तःपुर के रक्षक दौड़े आए और सेठ को पकड़ कर हिरासत में ले लिया।

यथासमय राजा आए। रानी बनावटी व्यथा प्रकट करती हुई कहने लगी-प्राणनाथ! आज बड़े पुण्योदय से मेरे शीलधर्म की रक्षा हुई। यह दुष्ट पापी अन्तःपुर में घुस आया और मेरे साथ बलात्कार करने का प्रयत्न करने लगा। मैंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर इसका प्रतिरोध किया। इसने मेरे कपड़े फाड़ डाले और जगह-जगह नाखूनों की खरौंच लगा दी। यह बड़ा आततायी है। इसे शूली पर न चढ़ाया गया तो घोर अत्याचार फैल जाएगा। सती-साध्वी महिलाओं को अपने शील की रक्षा करना कठिन हो जाएगा।

रानी के चिथड़े बने वस्त्र और क्षत-विक्षत शरीर देखकर राजा के कोप की सीमा न रही। उसने उसी समय सुदर्शन को शूली पर चढ़ा देने की आज्ञा दे दी।,

बिजली के वेग की तरह समग्र चम्पा नगरी में यह समाचार फैल गया। सुदर्शन सेठ नगरी के अग्रगण्य श्रीमंत थे। अपनी धार्मिकता के लिए प्रख्यात थे। प्रजाजनों के विश्वासभाजन, आदरणीय और सम्माननीय थे। घटित घटना की सत्यता पर किसी को विश्वास नहीं हुआ। अतएव चम्पा के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित साहूकार मिलकर राजा के पास आये और बोले-सुदर्शन सेठ को पूरी छानबीन किये शूली नही होनी चाहिए। महाराज, आप न्यायनिष्ठ हैं। हम सुदर्शन

की ओर से न्याय की माँग करते हैं। वह बड़े ही धर्मप्रिय और शीलवान् पुरुष हैं। विश्वास नहीं होता कि उनसे यह अकार्य हो सके। अतएव आप अपने आदेश पर पुनर्विचार करें और सत्य की गवेषणा करें।

राजा-मुझे जो प्रमाण मिले हैं, पर्याप्त गंभीर हैं। मेरे रन्-वास पर कुदृष्टि डालने वाले और अन्दर घुस आने का अतिसाहस करने वाले एक दुश्शील व्यक्ति का आप पक्ष ले रहे हैं, यही आश्चर्य की बात है। आज सुदर्शन को छोड़ दिया जायगा तो राज्य में महिलाओं की इज्जत कैसे रहेगी ? अतएव आपकी माँग उचित नही है।

एक साहूकार-हमारी माँग सुदर्शन को छोड़ देने की नहीं है; उनके ऊपर लगे हुए आरोप की जाँच करने की है।

राजा--क्या आप लोग महारानी पर विश्वास नहीं कर सकते ? कोई साधारण महिला भी किसी पुरुष पर निष्कारण ऐसा आरोप नहीं लगा सकती, जिससे उसकी प्रतिष्ठा पर आँच आवे! सोचिए, महारानी का इसमें क्या लाभ है ? ऐसी स्थिति में जो आदेश दिया जा चुका है, वह अन्तिम है।

दूसरा साहूकार--महाराज की जो इच्छा होगी वही होगा। परन्तु विचार कर लेने में कुछ हानि नहीं है। दीर्घ और सूक्ष्म विचार करके कार्य किया जाय तो बाद में पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आता।

इतना कहने पर भी राजा अपने विचार पर दृढ़ रहा। उसी समय सुदर्शन की पत्नी ने संदेशा भिजवाया--मैं सेठजी के तोल का सोना और जवाहरत दे सकती हूँ; किन्तु सेठजी को प्राणदण्ड न दिया जाय।

राजा ने उत्तर में कहला दिया--राजकोप बहुत विशाल है। उसमें न सोने की कमी है न हीरों की।

सब की आशाओं पर पोता फिर गया। राजा ने शूली पर चढ़ा देने का अपना आदेश ज्यों का त्यों रक्खा। आखिर सुदर्शन को शूली पर चढ़ाने के लिए जल्लाद ले जाने लगे। सुदर्शन अब भी मौन थे। अपने बचाव के लिए उन्होंने एक शब्द भी न कहा।

उधर सेठानी ने जब जाना कि राजा का हुक्म नहीं बदल रहा है तो वह पंचनमस्कार मंत्र का सहारा लेकर बैठ गई। वह धर्म की जानने वाली थी और समझती थी कि एक दिन जीवन का अन्त आता ही है, किन्तु बदनामी के साथ पति की मृत्यु उसे अखर रही थी। मगर पंचनमस्कार मंत्र के अतिरिक्त और कोई सहारा न था। उसको विश्वास था कि रक्षा हो सकती है तो धर्म के प्रताप से ही हो सकती है। धर्म के विषय में कहा जाता है:—

तेरे लिये प्राण तजे जिन्होंने,
टूटा उन्हीं का यमराजपाश।
रक्षा सदा जो करता तिहारी,
तू भी बचाता उनको दुःखों से॥

आराधते निर्मल चित्त में जो,
पाते वही जीवनलाभ पूरा।
जो मूढ़धी हैं करते विनाश,
होता उन्हीं का जग में विनाश॥

धर्म के लिए प्राण त्याग करने वाले अमर हो जाते हैं। जो

धर्म की रक्षा करते हैं, धर्म उनकी सब दुःखों से रक्षा करता है। जो हृदय से धर्म की आराधना करते हैं, उन्हीं का जीवन सार्थक होता है। जो मूढ़ पुरुष धर्म का नाश करते हैं, अर्थात् धर्म के विपरीत आचरण करते हैं, उन्हीं का विनाश होता है।

सुदर्शन सेठ धर्म के लिए प्राण अर्पित कर रहे थे। वह चाहते तो सत्य घटना प्रकाश में ला सकते थे और निर्दोष सिद्ध हो सकते थे। किन्तु ऐसा करने पर रानी अभया पर विपत्ति के बादल टूट पड़ते। स्वयं विपत्ति से बचने के लिए दूसरे पर विपत्ति लाद देने की उनके अन्तःकरण ने उन्हें आज्ञा नहीं दी। अतएव वह रानी के बदले स्वयं बड़ी से बड़ी बदनामी और विपत्ति सहने को तैयार हो गए। इस प्रकार जो भक्त अपने धर्म की रक्षा करने को उद्यत हो रहा है, धर्म क्या उसकी रक्षा नहीं करेगा ?

शूली के समीप पहुँच कर शीलवान् सुदर्शन ने सागारी संथारा कर लिया। जब उन्हें शूली पर चढ़ाया जाने लगा तो आसमान से देवता आये और उन्होंने शूली का सिंहासन कर दिया। सुदर्शन के जयजयकार से गगन गूँज उठा। चारों ओर यह चामत्कारिक समाचार फैल गया।

यह समाचार सुनकर अभया रानी काँप उठी। वह जीते जी मुँह दिखलाने योग्य नहीं रह गई थी। अपनी नजरों में आप ही गिर गई थी। अतएव उसने आत्महत्या करके प्राण त्याग दिये। राजा को बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने सेठ सुदर्शन से अपने अविचार के लिए क्षमायाचना की। इस प्रकार शीलधर्म की विजय हुई।

सचमुच भक्ति की शक्ति अपार है। जो जन शुद्ध अन्तःकरण से भगवान् की भक्ति करते हैं, उनके लिए इसलोक में और परलोक में आनन्द ही आनन्द होता है।*

२८-९-४६ }
झामोला चौकी }

*व्याख्यान को सुनकर मुसलमान हवलदार और कई सिपाहियों ने शिकार मदिरापान आदि का त्याग किया।

११

धर्मी और अधर्मी

स्तुतिः—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति ।
तच्चारुचाम्रकलिकानिकरैकहेतुः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

हे प्रभो ! मैं अल्पश्रुतवान् हूँ, अधिक पढ़ा-लिखा नहीं हूँ। फिर भी आपकी स्तुति करने को उद्यत हो गया हूँ। मेरा यह साहस देखकर पढ़े-लिखे विद्वान् मेरी हँसी करेंगे।

कोई कह सकता है कि जब तुममें योग्यता नहीं है और यह बात तुम्हें मालूम भी है तो फिर स्तुति करते ही क्यों हो ? उस प्रश्न का उत्तर यह है कि मैं आप की स्तुति नहीं करता, किन्तु आपके प्रति मेरी जो भक्ति है वह बलात् मुझसे स्तुति करा रही है। वसन्त ऋतु में जब आम के मौर आते हैं और कोकिला उन्हें चगल लेती है तो स्वाभाविक रूप से उसका कंठ खुल जाता है और 'कुहू-कुहू' की सुमधुर ध्वनि उसके कंठ से फूट पड़ती है। हे आदिनाथ ! इसी प्रकार आपकी भक्ति की आन्तरिक प्रेरणा से मेरी अन्तरात्मा आपके गुणगान के लिए उद्यत हो रही है।

ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो ! अन्तःकरण में भक्ति का निर्मल, धवल और वेगवान् निर्झर प्रवाहित न हो रहा हो तो भगवद्गुणगान रूपी कल-कल-निनाद होना संभव नहीं है। अर्थात् भक्ति के अभाव में स्तुति नहीं होती। भक्ति में स्वभावतः ऐसी शक्ति होती है जो गुण गान के लिए प्रेरित करती है।

लोक व्यवहार में भी यही देखा जाता है। जिसे जिसके प्रति अनुराग होता है, उसके गुण उसके ध्यान में आते हैं और वह उन गुणों का बखान भी करता है। इसके विपरीत, जिसके प्रति अनुराग नहीं है, उसके गुण प्रथम तो ध्यान में ही नहीं आते और कदाचित् आते भी हैं तो उनका बखान नहीं किया जाता। इसी प्रकार जिसकी अन्तरात्मा में परमात्मा के प्रति गाढ़ी अनुरक्ति नहीं है, वह परमात्मा की स्तुति भी नहीं करता।

दूसरी बात यह है कि जो स्वयं गुणवान् होगा, वही किसी

के सद्गुणों को सद्गुण समझेगा और उनकी कद्र करेगा। कहा भी है:—

> गुणी गुणं वेत्ति न वेत्ति निर्गुणो,
> बली बलं वेत्ति न वेत्ति निर्बलः।
> मधोर्गुणं वेत्ति पिको न वायसः,
> करी च सिंहस्यबलं न मूषकः॥

अर्थात्–जो स्वयं गुणवान् है वही दूसरे के गुण को जानता है, जिसमें गुण नहीं है वह दूसरे के गुणों को नहीं जान सकता। इसी प्रकार बलवान् पुरुष ही बल को समझता है, निर्बल नहीं। ऋतुराज वसन्त की विशेषता कोयल समझती है, कौवा नहीं समझ सकता। सिंह के बल-पराक्रम को गजराज जानता है, चूहा नहीं।

परमात्मा में अनन्त गुण हैं, किन्तु उन्हें समझने के लिए मनुष्य को पात्र बनना चाहिए। जो गुणवान् नहीं है, जिसमें पात्रता नहीं आई है, वह परमात्मा के गुणमय स्वरूप को नहीं समझ सकेगा। दुर्गुणी के मुँह से भगवान् के गुण नहीं निकलते। न साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के ही गुण निकल सकते हैं।

जब मनुष्य की दृष्टि दूषित और विकृत होती है तो उसे दूसरों के सद्गुण भी दुर्गुण दिखाई देते हैं। पीलिया रोग से ग्रस्त को सब वस्तुएँ पीली ही पीली नजर आती हैं। मगर यह न समझिए कि शरीर में ही पीलिया की बीमारी होती है। यह बीमारी आत्मा में भी होती है और आत्मा के पीलिया को ज्ञानी जन मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व के प्रभाव से जीव की रुचि विपरीत हो जाती है और वह दुर्गुणों को सद्गुण तथा सद्गुणों को दुर्गुण समझता

है। सत्य में असत्य का और असत्य में सत्य का प्रतिभास होना मिथ्यात्व का खास लक्षण है। जब तक जीव की यह स्थिति रहती है, तब तक उसका उद्धार नहीं हो सकता। उद्धार के लिए ऐसे जीव की इच्छा ही नहीं होती है और कदाचित् होती भी है तो वह विपरीत प्रयत्न करता है, जिससे उत्थान के बदले अधःपतन के गड़हे में गिरता है।

यही तथ्य सामने रखकर ज्ञानी जनों ने बतलाया है कि आत्मा के कल्याण लिए सर्वप्रथम दृष्टि को विशुद्ध बनाने की आवश्यकता है। जिसकी दृष्टि या रुचि शुद्ध हो चुकी है, वही आत्मोत्थान के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

जिसका मिथ्यात्व नष्ट नहीं हुआ है और जिसकी अन्तरात्मा सम्यक्त्व गुण से विभूषित नहीं बनी है, उसे भगवान् की वाणी अच्छी नहीं लगती। वह प्रथम तो सुनता ही नहीं है और सुनता भी है तो समझता नहीं है। सम्यग्दृष्टि और उत्तम आत्मा ही भगवान् का नाम स्मरण करेगा और वही शास्त्रों का श्रवण करेगा।

बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष, जो हजार दो हजार प्रति मास वेतन पाते हैं और जिन्हें काम से दिन भर फुर्सत नहीं मिलती, प्रायः प्रतिदिन भगवान् का भजन करते हैं। सवेरे जल्दी जाओ और उनसे मिलना चाहो तो यही उत्तर मिलेगा कि इस समय वे धर्मध्यान में हैं—नित्य नियम कर रहे हैं। और जिन्हें दिन भर फुर्सत ही फुर्सत है, जो बैठे-बैठे मक्खियाँ मारा करते हैं या डाका डालने का विचार किया करते हैं, उनके मुख से ईश्वर का नाम निकलना कठिन है।

सचमुच भाग्यवान् मनुष्य ही, भगवान् का भजन करता

है। अभागा अपने दुर्भाग्य से त्रस्त है। उसका भवितव्य भी अच्छा नहीं है तो उसमें भगवद् भजन की भव्य भावना भी उदित नहीं होती। ऐसे मनुष्य के मुँह से गालियां तो निकल जाएँगी किन्तु ईश्वर का नाम नहीं निकलेगा। हाँ, छोटे दरवाजे में से निकलते समय खोपड़ी में लग जायगी या बुखार चढ़ आएगा तो भले राम राम करेगा! ऐसे लोग भगवान् की महिमा को नहीं समझते। उन्होंने भगवान् के नाम का महत्त्व भी नहीं जान पाया है।

जिसकी अन्तरात्मा में भगवान् के प्रति प्रीति उत्पन्न हो गई है और जिन्होंने भगवान् के नाम को अमृत समझ लिया है, जो भगवान् के दास और भक्त हैं, उनकी रुचि स्वभावतः ऐसी सुन्दर बन जाती है कि वे कोई बुरा काम नहीं करते। ऐसे भगवद्भक्तजन सांसारिक कार्य करते हुए भी परमात्मा को विस्मरण नहीं करते हैं। उनका कोई भी कार्य परमात्मा की आज्ञा के प्रतिकूल नहीं होता।

भगवान् के भक्त का जीवन धार्मिक दृष्टि से भी ऊँचा हो जाता है और नैतिक दृष्टि से भी। वह किसी प्रकार के नये दुर्व्यसन के वशीभूत नहीं होता और पहले का कोई दुर्व्यसन हो तो उसका त्याग कर देता है।

भगवद्भक्त पुरुष तमाखू, गाँजा, भंग या अफीम जैसे नशा उत्पन्न करने वाले एवं मादक पदार्थों का कदापि सेवन नहीं करना चाहेगा। यह नशा पैदा करने वाले पदार्थ मनुष्य के तन को और मन को दोनों को हानि पहुँचाते हैं। इनसे शरीर खोखला हो जाता है, शरीर में जहर फैल जाता है, स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है, मानसिक दुर्बलता बढ़ जाती है और थोड़े ही दिनों में जिंदगी भारभूत बन जाती है।

जो तमाखू आदि का सेवन न करेगा, वह मदिरा का सेवन तो कर ही कैसे सकता है ? मदिरा-सेवन तो घोर अतिघोर अनर्थों की जड़ है। वह न केवल मदिरासेवन करने वाले व्यक्ति को ही, वरन् उसके सारे परिवार को ही मुसीबत में डाल देता है। इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। शराब के कुफल तो प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। शराबी के बाल बच्चे भूखों मरते हैं, उघाड़े फिरते हैं, औरत को लाज रखने के लिए भी कपड़े मयस्सर नहीं होते; परन्तु शराबी शराब पीये बिना नहीं रह सकता ! वह अपनी गाढ़ी कमाई को नशे में नष्ट कर देता है। उसके समस्त सद्-गुण नष्ट हो जाते हैं। इज्जत और आबरू कौड़ी की नहीं रहती।

उसे देख-देख कर लोग घृणा करते हैं। शराब के नशे में पागल होकर लोग गली-कूचों में गिर जाते हैं, गंदी मोरियों में पड़े-पड़े अंटसंट बकते हैं ! शराबियों की ऐसी दुर्दशा देख कर कौन भला आदमी शराब पीने की इच्छा करेगा ? शराब सौभाग्य रूपी चन्द्रमा के लिए राहु के समान है। लक्ष्मी और सरस्वती को नष्ट करने वाली है।

भगवान् के भक्त ऐसी वस्तुओं का कदापि सेवन नहीं कर सकते। क्योंकि ये वस्तुएँ धर्म का नाश करने वाली हैं। भगवद्भक्त तो धर्म को ही सर्वोपरि समझता है और मानता है कि धर्म ही संसार में एक मात्र कल्याणकारी तत्त्व है। वह धर्म के लिए सर्वस्व का त्याग करता है, परन्तु तीन लोक के राज्य के लिए भी धर्म का परित्याग नहीं कर सकता।

धर्म का आचरण करने वाला पुरुष इस लोक में भी शान्ति एवं सुख का अनुभव करता है और परलोक में भी स्वर्ग या मोक्ष के सुख पाता है। अधर्मी, पापी और नास्तिक पर कोई संकट

आजाता है तो वह अपने को निराधार अनुभव करता है। सान्त्वना पाने का उसे कोई उपाय नहीं सूझता। उसके सामने अनन्त अंधकार और असीम निराशा होती है। कहीं से भी प्रकाश की किरण उसे दिखाई नहीं देती। किसी दुखी को अपनी निराधारता का भान होता है, तब उसका दुःख बेहद बढ़ जाता है। उसका वेदना अतीव उग्र हो जाती है। अधर्मी और नास्तिक पुरुष को इसी कारण बहुत वेदना होती है।

मगर परमात्मा के भक्त आस्तिक पुरुष को निराशा का स्पर्श नहीं होता है। उसकी आशा असीम है। अपना भविष्य अतिशय उज्ज्वल प्रतीत होता है, अतएव आशा और आश्वासन का उज्ज्वल आलोक सदैव उसके समक्ष आलोकित और उद्‌भासित रहता है। उसका परम आधार परमात्मा है और सान्त्वना का सबल केन्द्र धर्म है। अतएव भयानक से भयानक संकट आने पर भी उसे निराशा के दुर्भाग्य का सामना नहीं करना पड़ता। इस कारण उसकी शारीरिक व्यथा, मनोवेदना का रूप धारण करके उसे संतप्त करने में समर्थ नहीं होती। उस व्यथा को वह कृत कर्मों का अनिवार्य परिपाक मानकर धैर्य धारण करता है और अपने आपको आर्त्ति से बचाता है।

इस प्रकार धर्मी और अधर्मी को कदाचित् समान कष्ट उत्पन्न हो जाय तो धर्मी को अत्यल्प वेदना होगी और अधर्मी को अत्यधिक वेदना होगी। एक उदाहरण लीजिए।

मान लीजिए, एक व्यक्ति के द्वारा किसी का कोई अनिष्ट हो गया। जिसका अनिष्ट हुआ है, वह परमात्मतत्त्व का ज्ञाता है और धर्मपरायण है। ऐसी स्थिति में वह यही सोचेगा कि मेरा जो अनिष्ट हुआ है वह मेरे ही कर्मोदय से हुआ है। कोई किसी का

इष्ट या अनिष्ट नहीं कर सकता। मैं अपने अनिष्ट के लिए स्वयं ही उत्तरदायी हूँ। दूसरा तो निमित्त मात्र है। वह निमित्त न बनता तो और कोई निमित्त बन जाता। अतएव किसी अन्य को उत्तरदायी ठहरा कर उस पर रोष करना अथवा कषाय करना योग्य नहीं है। दूसरे पर रोष करने से नूतन अप्रशस्त कर्मों का बन्ध होगा और पुनः उनका अनिष्ट फल भोगना होगा। इसी प्रकार हाय-हाय करने से भी पाप-बन्ध होगा। अतएव जो अनिष्ट उपस्थित हुआ है, उसे शांति और समभाव से सहन करना ही मेरे लिए हितकर है।

इस प्रकार की प्रशम-परिपूर्ण विचारधारा के कारण धर्मात्मा शान्त रहेगा और रोष या आवेश के वशीभूत न होगा।

अब दूसरे प्रकार के व्यक्ति को लीजिए। वह अधर्मी और नास्तिक है। उसे धर्म पर विश्वास नहीं है, कर्म पर आस्था नहीं है और परमात्मा पर भरोसा नहीं है। ऐसी दशा में वह अपने अनिष्ट का कारण बने हुए व्यक्ति पर ही समस्त उत्तरदायित्व डालेगा। उसी को दोषी समझेगा और उसी पर रोष करेगा। परिणाम यह होगा कि वह उसके साथ संघर्ष करने को तैयार हो जाएगा और झगड़े में पड़ जाएगा। उसकी शान्ति भंग हो जाएगी वह सुखी नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार धर्मात्मा और अधर्मात्मा के जीवन में प्रत्यक्ष अन्तर दिखलाई देता है। धर्मात्मा इसी भव में सुख-शान्ति का वरण करता है और अधर्मी अशान्ति का पात्र बनता है।

परलोक की बात भी स्पष्ट ही है। धर्मनिष्ठ परमात्मा भक्त जीव स्वर्ग प्राप्त करते हैं या शाश्वत मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति बनते हैं, जब कि पापी जीव नरक की यातनाओं के पात्र बनते हैं।

धर्मी मरेंगे तो उन्हें यमदूतों की यातनाओं का भय नहीं लगेगा; पापी उस सब से काँप उठेंगे। धर्मी को किस बात का भय है ? वह इस लोक में है तो सुख में है और परलोक में जाएगा तो भी सुख में रहेगा। जिसने गेहूँ नहीं बोये हैं वही गर्मी की चिंता करेगा और जिसने बोये हैं और उन्हाले की फसल खेत में खड़ी लहलहा रही है, उसे चिन्ता काहे की ?

इसी प्रकार जो दान नहीं देगा, शील का पालन नहीं करेगा, तपस्या नहीं करेगा और सद्भाव नहीं रक्खेगा, उसी को शोक और चिन्ता होगी और उसी को यमदूत परलोक में कष्ट देंगे। धर्मी को कहीं, किसी से, कोई डर नहीं है। वह जानता है कि धर्म कभी दुखप्रद अवस्था में नहीं गिरने देता। धर्म का स्वभाव सदा सुख देने का है।

धर्म का स्वरूप समझने के लिए, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विवेक प्राप्त करने के लिए, और साथ ही व्यावहारिक कार्यों में भी कौशल प्राप्त करने में लिए विद्या की आवश्यकता है। विद्या की महत्ता और उपयोगिता प्रकट करने के लिए कहा गया है:—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतम्,
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

अर्थात्—विद्या ही मनुष्य का असली और सच्चा रूप है। विद्या गुप्त धन है, जिसे लाख उपाय करके भी चोर चुरा नहीं सकते; लुटेरे लूट नहीं सकते। विद्या के द्वारा संसार के सब तरह

के भोगोपभोग प्राप्त किये जा सकते हैं। विद्या से यश-कीर्त्ति और सुख की प्राप्ति होती है। विद्यावान पुरुष गुरुजनों में भी गुरु बन जाता है। विदेश में विद्या ही सहायक होती है। विद्या मनुष्य का सब से बड़ा देवता है। विद्या राजाओं के द्वारा भी सम्मान दिलवाती है। जिसमें विद्या नहीं है, वह मनुष्य होकर भी पशु के समान है।

यहाँ कहा गया है-विद्या बन्धुजनो विदेश गमने।' अर्थात् परदेश में विद्या ही मनुष्य के लिए मित्र का काम देती है। विद्वान् कहीं भी जाय, सर्वत्र उसका सत्कार होता है। उसके लिए कहीं किसी बात की कमी नहीं रहती।

एक मनुष्य बड़ा ही दरिद्र था और ऊपर से ऋणी भी हो गया था। उसकी पत्नी प्रसव करने की तैयारी में थी। किन्तु था वह पढ़ा लिखा। एक दिन उसने अपनी पत्नी से कहा—घर में खाने का ढंग नहीं है। बाहर निकलता हूँ तो साहूकार लोग पल्ला पकड़ते हैं। ऐसी स्थिति में मैं परदेश चला जाऊँ तो क्या उचित नहीं होगा? भाग्य आज़मा कर देखना चाहिए। अनुकूल पांसे पड़ गये तो सब का ऋण भी चुका दूंगा और महीने के महीने तुम्हें भी खर्च-पात भेजता रहूँगा। यहाँ रहा तो चिन्ता ही चिन्ता में मर जाऊँगा। देना तो सगे बाप का भी बुरा है। आखिर किसी भी उपाय से भार हल्का करना पड़ेगा।

पत्नी ने कुछ-कुछ चिन्तित भाव से कहा—मैं यहाँ किसके सहारे रहूँगी? मुझे भी साथ लेते चालिए।

पति-प्रथम तो प्रसव का समय सन्निकट है। परदेश में उसकी व्यवस्था होना कठिन है। फिर कहीं निश्चित ठिकाना भी तो नहीं है। न जाने कहाँ कहाँ भटकना होगा।

पत्नी-तो फिर ठीक है। आप भले जाइए। मेरा जो होना होगा सो होगा।

पति ने जैसे-तैसे खाने-पीने की सामग्री की व्यवस्था कर दी। फिर एक दिन शुभ मुहूर्त्त दिखलाकर चल दिया। मद्रास जैसे किसी बड़े नगर में पहुँचा। बाजार में फिरते-फिरते सोचता है-जाऊँ तो किसकी दुकान पर जाऊँ? किसी से मेरी जान-पहिचान नहीं है। अनजान को कौन नौकरी देगा? कौन विश्वास करेगा?

इस प्रकार सोचता-विचारता वह जा रहा था कि एक दुकान पर कुछ नौकर बैठे बात कर रहे थे। यह भी उनके पास जाकर बैठ गया। उन नौकरों में से एक ने पूछा कहाँ से आ रहे हो भाई?

संयोग की बात है कि आगन्तुक ने अपना जो गाँव बतलाया, उसी गाँव के वह लोग भी थे। दूर देश में जब एक गाँव के दो आदमी मिल जाते हैं, तो उनमें बड़ी प्रीति हो जाती है। आगन्तुक का भी उनके साथ गहरा प्रेम हो गया। अब वह प्रतिदिन उनके पास आकर बैठने लगा। करीब १५ दिन हो चुके थे। नवागत को कहीं आजीविका नहीं मिली थी।

एक दिन झाड़ू देने वाला नौकर बीमार हो गया और उसे कुछ अधिक दिनों तक विश्राम की आवश्यकता हुई। सेठ ने कहा—अस्थायी रूप से कोई आदमी मिल जाय तो ले आओ। तब नौकरों ने कहा—एक आदमी हमारी नजर में है। बहुत सीधा है। पन्द्रह दिनों से हमारे पास आकर बैठता है।

सेठ ने उसे बुलवाया। पूछा—झाड़ू निकालने का काम करोगे?

आगंतुक-क्यों नहीं साहब! जो आज्ञा होगी वही करूँगा।

सेठ—क्या लोगे ?

आगन्तुक—जो आप देंगे वही ले लूँगा।

सेठ—ठीक है, रोटी, कपड़ा और पाँच रुपया महीना देंगे।

आगन्तुक को विश्वास था कि मनुष्य यदि प्रामाणिकता और वफादारी के साथ काम करे तो उसकी कद्र अवश्य होती है। ईमानदार और परिश्रमी व्यक्ति जरूर तरक्की करता है। अतएव उसने यह वेतन स्वीकार कर लिया। उसने सोचा—एक बार पैर टिकने को जगह मिलनी चाहिए। फिर तो मैं जगह बना लूंगा।

वह आदमी मिहनत के साथ अपना काम करता। शाक भाजी लाने को पैसे दिये जाते तो बराबर शाक ले आता। मुनीम साहब जो काम बतलाते, वह भी प्रेम के साथ कर लेता। और कोई कुछ काम करने को कहता तो वह भी करता। कभी काम में आलस्य न करता, मुँह न बिगाड़ता और चाव से करता। उसकी फुर्ती और ईमानदारी देखकर मुनीम और सेठ दोनों प्रसन्न थे। क्योंकि—

मिहनत कर रे मानवी, मिहनत पावे मान।
मिहनत से सिद्धि मिले, मिहनत से भगवान् ॥१॥

भाइयो! मिहनत सब को अपना बना लेती है! कहावत है—काम प्यारा होता है, चाम नहीं।

इस प्रकार काम करते-करते दो महीने बीत गये। एक दिन मुनीमजी के हिसाब में कुछ उलझन पड़ गई। बहुत प्रयत्न करने पर भी हिसाब नहीं बैठ रहा था। उधर रसोई जीमने का बुलावा आया तो उन्होंने कहा—थोड़ी देर से आऊँगा। थोड़ी देर बाद

फिर बुलावा आया तो कहा—अभी नही, थोड़ा और ठहर जाओ। हिसाब वैठा नहीं है।

यह देख झाड़ू निकालने वाले ने हिसाब देखा और कहा-मुनीम साहब, हिसाब में यहाँ भूल मालूम होती है। इसीसे ठीक नहीं वैठ रहा है। उसकी बात ठीक थी। मुनीम ने आश्चर्य के साथ पूछा तू पढ़ा--लिखा भी है?

मुनीम ने वही उसे दे दी और आप भोजन करने चले गए। इसने सारा हिसाब विठला दिया। मुनीम वापिस आये तो हिसाब तैयार था। वह बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सेठजी से कहा--यह आदमी पढ़ा लिखा होशियार है। इसे दस रुपये मासिक देकर मैं अपने यहाँ रखना चाहता हूँ।

सेठ ने कहा--एक रुपया रोज दो और जिसका काम अटके, उसी का काम किया करे।

मुनीमजी ने यह बात स्वीकार कर ली। उसे तीस रुपया मासिक, भोजन और कपड़ा मिलने लगा। वह झाड़ू निकालता और हिसाब का काम भी करता था।

एक दिन सफ़ाई करते समय कचरे में उसे कुछ मोती मिले। सेठ के यहाँ जवाहरात का धंधा था वह उन मोतियों को लेकर सेठ के पास पहुँचा। पूछा--यह मोती किस कीमत के होंगे? सेठ ने कहा—पाँच पाँच रुपये के होंगे।

इसके बाद उसने उन मोतियों को साफ करके रेशमी डोरे में पिरो दिया और फिर सेठ से कीमत पूछी। इस बार सेठ ने उनकी कीमत सौ रुपया बतलाई। सेठ ने पूछा- यह मोती कहाँ से लाये हो? उसने कहा यह वही हैं जो कचरे में मिले थे।

सेठ बहुत प्रसन्न हुआ। वह समझ गया आदमी बहुत होशियार है। सेठ की बाहर दिशावर में अनेक दुकानें थीं। वहाँ के मुनीम जब कभी छुट्टी पर जाते तो सेठ इसे उनकी जगह भेजा देता। अब उसे एक हजार प्रतिवर्ष वेतन मिलने लग गया। ठीक ही है—

विद्या ही एक मनुष्य का दुनिया में यार है।
विद्या बिना मनुष्य का जीना धिक्कार है ॥१॥

सचमुच परदेश में विद्या ही मनुष्य का मित्र है। विद्या ही स्त्रियों का सच्चा शृंगार है। विद्या के बिना मनुष्य को धर्म और कर्म नहीं सूझता है।

धीरे-धीरे वह आदमी सदर मुनीम बन गया। रकम इकट्ठी होने पर उसने निजी धंधा भी किया। इस प्रकार उसके पास दो-तीन लाख की सम्पत्ति हो गई। तब वह सेठ से विदाई लेकर घर आया। सब का ऋण चुकाया और अनन्द से रहने लगा।

इस प्रकार परदेश में विद्या मित्र है और घर में स्त्री मित्र है बुद्धिमती स्त्री हो तो वह मित्र के समान होती है। चिन्ता के प्रसंग पर बुद्धिमती पत्नी पुरुष को धैर्य बँधाती है और मार्ग बतलाती है। ऐसी पतिव्रता और बुद्धिशालिनी पत्नी पुण्यवान् पुरुष को ही मिलती है। मूर्ख पत्नी पति को परेशान किया करती है। पति पूर्व में जाय तो पत्नी पश्चिम में जाती है।

आदमी बीमार हो जाय तो दवा उसके लिए मित्र का काम देती है। परन्तु मरने पर धर्म मित्र होता है। मनुष्य मर कर जब परलोक की महा यात्रा करता है तो धर्म के अतिरिक्त और कोई सहायक नहीं होता। मरते समय मनुष्य को सुनाया जाता है—

अरिहन्त भगवान् का, सिद्ध भगवान् का, गुरु महाराज का और केवलि प्ररूपित दयामय धर्म का शरण है। जो मनुष्य धर्म का आचरण करके जायगा वह परलोक में सुखी रहेगा। जिसने जीवों पर दया न की होगी, परोपकार नहीं किया होगा, समभाव न रक्खा होगा, भगवान् का गुण गान एवं स्तवन न किया होगा, वे दुखी होंगे। उन्हें किसी का शरण नहीं मिलेगा। यहाँ वह लखपति है, करोड़पति है, राजा महाराजा है, परन्तु शरीर त्याग कर जाने के वाद क्या है ? कुछ भी तो नहीं !

भाइयो ! पापी जीव मर जायगा, लाखों-करोड़ों की संपत्ति छोड़ जायगा, परन्तु उस सम्पत्ति के उपार्जन में जो पाप किये हैं उन्हें साथ अवश्य ले जायगा। उन पापों का फल भोगने के लिए वह नरककुण्ड में गिरेगा। वहाँ सारी अकड़ निकल जायगी। वहाँ की यातनाएँ बड़ी गजब की है। पहले तो वहाँ की भूमि ही इतनी दुःखप्रद है कि मत पूछो वात ! एक हजार विच्छू एक साथ शरीर में काट खाएँ तो जैसी वेदना होती है, वैसी ही वेदना नरक की भूमि का स्पर्श करने पर होती है। फिर सर्दी-गर्मी भी इतनी कि जिसकी कल्पना करना भी कठिन है।

जिन नरकों में गर्मी पड़ती है, वहाँ की गर्मी का अनुमान इसी से लगा लीजिए कि वहाँ से नारकी जीव को निकाल कर यहाँ भड़भूंजे के भाड़ में डाल दिया जाय तो उस गर्मी में भी उसे चैन मिलेगा, वह शान्ति का अनुभव करेगा और उसे नींद आ जाएगी। तात्पर्य यह है कि भाड़ की गर्मी नरक की गर्मी के सामने नगण्य है।

सर्दी का भी ऐसा ही हाल है। पौष माघ के महीने में, खुले आकाश में, नारकी को वहाँ से लाकर वर्फ से चारों ओर से ढँक दिया जाय तो उसे आराम मालूम होगा।

भूख-प्यास की वेदना भी वहाँ असीम है। इतनी भूख लगती है कि अगर तीन लोक का समस्त धान्य खा जाय तो भी भूख न मिटे। मगर मिलता नहीं है एक दाना भी। नारकी प्यास से पीड़ित होकर बिलबिलाता है पर एक बूंद भी पानी नहीं मिलता। हाँ, परमाधामी नामक देवता उकले हुए शीशे का रस जबर्दस्ती मुँह फाड़ कर पिला देते हैं और कहते हैं-ले, अपनी प्यास बुझा ले ! बेचारा नारकी तड़फ कर रह जाता है।

नारकी जीव आपस में वैरभाव रखते हैं और एक दूसरे के साथ ऐसा वर्त्ताव करते हैं, जैसे एक कुत्ता नये आये कुत्ते के साथ करता है कुत्ता कुछ देर में हिलमिल जाते हैं, परन्तु नारकी निरन्तर लड़ते ही रहते हैं। ऊपर से परमाधामी सदैव मारते, पीटते और तरह-तरह से कष्ट देते रहते हैं।

सच तो यह है कि नरक के दुस्सह कष्ट इतने उग्र होते हैं कि शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते। यह दुःख लम्बे समय तक सहन करने पड़ते हैं। नरक में कम से कम दस हजार वर्ष तक तो रहना ही पड़ता है। बहुत से बहुत तेतीस सागरोपम की आयु है। इतने लम्बे समय तक ऐसी भयानक यातनाएँ सहन करना कोई साधारण बात नहीं है।

भाइयो ! आज तुम स्वाधीन हो। नरक में जाने योग्य काम करने या न करने की स्वतंत्रता तुम्हें प्राप्त है। कर्म उपार्जन करने के लिए कोई विवश नहीं करता। परन्तु जब बुरे कर्म उपार्जन कर लोगे तब नरक में जाने को विवश हो जाओगे। फिर वहाँ जाने से कोई नहीं रोक सकता। इस कारण मैं चेतावनी दे रहा हूँ। पहले से सावधान हो जाओ। जरा गहरा विचार करके तो देखो कि किस प्रयोजन के लिए पापाचार करते हो ? पाप का आचरण

न करोगे तो क्या जीवन-निर्वाह नहीं होगा ? पाप न करने वाले क्या भूखे रहते हैं ? पाप करके सम्पत्ति इकट्ठी करना चाहते हो तो अपनी इस दुष्कामना को त्याग दो। सम्पत्ति परलोक में सुखी नही कर सकेगी। यही नहीं, सूक्ष्म विचार करोगे तो स्पष्ट झलकेगा कि वह इस लोक में भी सुख नहीं दे सकती। सम्पत्ति चित्त में शांति का स्रोत नहीं बहाती,व्याकुलता की आग सुलगाती है ऐसी संपत्ति के लिए क्यों आत्मा का अहित करते हो ? क्यों अपने आपको संकटों के काँटों में घसीटते हो ? क्यों घोर अमंगल करते हो ? समझो, भाइयो ! मेरी बात पर कान दो, ध्यान दो और अपने कल्याण के मार्ग पर चलो। बड़े-बड़े ज्ञानियों ने जो बात कही है, वही मैं तुमसे कह रहा हूँ।

कितने ही लोग इकट्ठे होकर जानवरों का शिकार करते हैं। उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। भैरोंजी और माताजी के सामने बकरे का गला काटते हैं तो कौन उसका रक्षक है ? इसी प्रकार हे पापी जीव ! तेरा वहाँ कौन रक्षक होगा ? कौन तेरी सहायता करेगा ? ऐ मेरे भाइयो ! कोई तुम्हारा रक्षक नहीं होगा !

शिकार करना अत्यन्त निर्दयतापूर्ण और अमानवीय कार्य है। मनुष्य भी प्राणी है और पशु-पक्षी भी प्राणी हैं। मनुष्य की बुद्धि अधिक विकसित है, इस कारण उसे सब प्राणियों का बड़ा भाई कहा जा सकता है। पशु-पक्षी, मनुष्य के छोटे भाई हैं। क्या यह कर्त्तव्य है कि वह अपने कमजोर छोटे भाई के गले पर छुरा चलावे ? नहीं, बड़े भाई का काम रक्षण करना है, भक्षण करना नहीं।

यह धरती प्रकृति की देन है। मनुष्य के बाप ने इसका पट्टा नहीं लिखा लिया है। इस पर मनुष्य को रहने का अधिकार है तो पशुओं और पक्षियों को भी रहने का अधिकार है। मनुष्य न जाने

कितनी सामग्री पर अधिकार कर रखता है, परन्तु जानवर तो छोटी-सी झोंपड़ी भी बना कर नहीं रहते। खाने के भंडार नहीं भरते। पेट में जितना समाता है, उतना खाते हैं। वह भी मिल गया तो खा लिया और न मिला तो भूखे ही रह जाते हैं ऐसे दीन, हीन, गरीब, असमर्थ प्राणियों के प्राण लेना मष्नुय के लिए घोर से घोर कलंक की बात है। यह उसके जंगलीपन की निशानी है। शिकार करना मनुष्य में रहे हुए राक्षसीपन का चिह्न है। इससे अधिक अमानुषिकता और क्या हो सकती है कि मनुष्य अपने ही समान चेष्टाएँ करने वाले, चलते-फिरते, बोलते, देखते-सुनते प्राणी की जीवन-लीला क्षण भर में समाप्त कर देता है! और वह भी बिना किसी अपराध के केवल अपनी प्रसन्नता के लिए, मनोरंजन के लिए अथवा जीभ की लोलुपता को को चरितार्थ करने के लिए! धिक्कार है ऐसे मनुष्य को! शिकारी मानवजाति का कलंक है।

शिकार के संबंध में कहा है:—

स्याह दिल हो जायगा, शिकार करना छोड़ दे।
कातिल बने मत अय दिला शिकार करना छोड़ दे।
क्यों जुल्म कर जालिम बनें, पापों से घट को क्यों भरें?
दिन चार का जीना तुझे शिकार करना छोड़ दे॥

तेरा तो एक खेल है, और उनके जाते प्राण हैं।
मत खून का प्यासा बने, शिकार करना छोड़ दे॥
बेकसूरों को सतावे, खौफ तू लाता नहीं।
बदला फिर देना पड़े, शिकार करना छोड़ दे॥

जैसी प्यारी जान तुझको, ऐसी औरों की भी जान।
रहम ला दिल में जरा, शिकार करना छोड़ दे ॥
जितने पशु के बाल हैं, उतने जनम कातिल मरे।
'मनुस्मृति' को देख ले, शिकार करना छोड़ दे ॥
हैवान आपस में लड़ाना, निशाना लगाना जान का।
'हदीस' में लिखा मना, शिकार करना छोड़ दे ॥
गर्भवती हिरनी को मारी, भूप श्रेणिक तीर से।
वह नर्क के अन्दर गया, शिकार करना छोड़ दे ॥
खून से होता नरक, श्रीवीर का फरमान है।
'चौथमल' कहे समझ लो, शिकार करना छोड़ दे ॥

भाइयो ! शिकार करना, धर्म के नाम पर बलि करना, क्रोध, लोभ अथवा भय से किसी प्राणी के प्राण लेना तुम्हारे हक में अच्छा नहीं है। यहाँ से पाप करके जाओगे तो माँ, बाप, भाई, कुटुम्ब, परिवार आदि कोई भी आड़ा नहीं आएगा। धन की थैलियाँ भी काम नहीं आएँगी। इसलिए पाप से बचो। किसी भी प्राणी को कष्ट मत पहुँचाओ। परोपकार करो। शील पालो। दीन दुखी को देखकर दिल में दया लाओ। उसके प्रति सहानुभूति दिखलाओ। उनके दुःख को दूर करो।

लोभ लालच मत करो। अभिमान से मत अकड़ो। निर्दयता का कोई काम मत करो। यमदूतों की याद करो। यमदूत मारेंगे, काटेंगे और शरीर के टुकड़े-टुकड़े करेंगे और वैतरणी नदी में डालेंगे और कहेंगे कि तुमने जानवरों को मार-मार कर खाया

है। लो अब उस करतूत का फल चखो। शीशा उबाल उबाल कर पिलाएँगे और ताना मारेंगे कि लो, मदिरा पीने का स्वाद लो! शराब बहुत प्यारी लगती थी। अब उसके बदले यह शीशे का रस पीओ।

कोई चोरी करता है और पुलिस पकड़ कर ले जाती है और पीटती है। चोर कदाचित् कहे कि मुझे क्यों मारते हो ? तो पुलिस के सिपाही यही कहेंगे कि तू ने चोरी क्यों की ? चोरी न करता तो क्यों मार खाता ? यह उत्तर सुनकर चोर को चुप ही रहना पड़ेगा इसी प्रकार यमदूतों की मार खाकर पापी नारकी जीवों को चुप्पी साधनी पड़ती है।

भाइयो ! नरक लोक में एक शाल्मली वृक्ष होता है। उसके पत्ते तलवार की धार से भी तीखे होते हैं। पापी जीव धूप और गर्मी से संतप्त होकर ठंडी छाया में जाने को कहता है, तो यमदूत उसे उस वृक्ष के नीचे ले जाते हैं। नीचे खड़ा कर देते हैं और वृक्ष को हिला देते हैं। शाल्मली वृक्ष के पत्ते उसके शरीर पर गिरते हैं और शरीर टुकड़े टुकड़े हो जाता है। यमदूत उसकी हँसी करते हैं; कहते हैं—क्यों कैसी बढिया ठंडक है। अच्छा लग रहा है ? अरे पापी ! पाप करके आया है और आराम चाहता है।

ऐसे गाढ़े समय में कोई सहानुभूति भी नहीं दिखलाता। कोई आड़ा नहीं आता। भला, धर्म के सिवाय और कौन आड़ा आने वाला है ? भाइयो ! अपनी भलाई चाहते हो तो पाप से बचो। किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाओ। असत्य भाषण न करो। चोरी न करो। पराई स्त्री पर बुरी नजर मत डालो—उसे माता और बहिन के समान समझो।

भाइयो ! एक भी शुद्ध सामायिक कर लोगे तो नरक में नहीं जाओगे और सद्गुरु का एक भी वचन ग्रहण कर लोगे तो बेड़ा पार हो जायगा। नीच गति में जाने से बच जाओगे। एक नवकार मंत्र जप लोगे तो भी सुखी हो जाओगे। जो कुछ भी धर्मक्रिया कर लोगे, वही साथ जायगी। वह सब तुम्हारी आत्मा के कल्याण के लिए ही होगी। रुपयों-पैसों में तो दूसरों का बँटवारा हो जायगा, किन्तु धर्म का बँटवारा नहीं होगा। एक भी बात सद्गुरु की मान लेने से भी किस प्रकार लाभ हो सकता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए:—

एक किसान ने उपदेश सुनकर मैंथी की भाजी का त्याग कर दिया। घर आया तो रात्रि में भोजन करने बैठा। संयोग से उस दिन उसके घर मैंथी की भाजी ही उबाली गई थी। पत्नी भाजी परोसने लगी तो किसान ने लेने से इंकार कर दिया। पत्नी ने हठ पकड़ ली। कहने लगी-भाजी बन चुकी है। इसे क्या फैंक दूं ? नहीं खाना है तो अब से नहीं पकाऊँगी। आज तो खानी ही पड़ेगी।

आप लोगों को अनुभव होगा कि कभी-कभी बहुत मामूली-सी बात में झगड़ा हो जाता है। बात साधारण होती है या होती ही नहीं है, फिर भी पति-पत्नी में चखचख हो जाती है। दोनों में से एक भी अगर गंभीर और शान्त प्रकृति का हुआ, तब मामला ठंडा पड़ जाता है और यदि दोनों का मिज़ाज गर्म हुआ तो भगवान् ही मालिक है। कभी-कभी तो इस प्रकार के संघर्ष के फल स्वरूप जीवन व्यापी कटुता उत्पन्न हो जाती है।

किसान भाजी खाना नहीं चाहता था तो इसमें उसकी पत्नी का क्या बिगड़ता था ? परन्तु उसने यह नहीं सोचा और झगड़ना

आरम्भ कर दिया। बात बढ़ गई और किसान क्रोध में आकर भोजन किये बिना ही घर से निकल कर चल दिया। वह घर से बाहर ही नहीं गया, गाँव से बाहर भी चला गया और रेत के टीले की रेत हटाकर उसमें बैठ गया।

इधर चार चोर सोने की गांठें लेकर आये। पास में भैरोंजी का स्थान था। वे वहीं ठहर गये। उन्होंने सोचा—आज गहरा माल हाथ लगा है, अतः भैरोंजी को नारियल चढ़ाना चाहिए। उन्होंने नारियल निकाला, और फोड़ना चाहा, किन्तु कोई पत्थर नहीं मिला। इधर उधर नजर फैलाई तो उसी किसान का सिर दिखलाई दिया। चोरों ने उसे पत्थर समझा और वहीं नारियल फोड़ ले आने का विचार किया। किसान उस समय नींद में मस्त था। चोर ने ज्यों ही किसान की खोपड़ी पर नारियल फोड़ा, वह जाग उठा और हड़बड़ा कर बोला—'खाऊँ, खाऊँ !'

चोर भयभीत हो गया। उसने सोचा—भूत है। वह प्राणों को हथेली पर लेकर भागा और उसके 'भूत-भूत' चिल्लाने के कारण शेष तीन चोर भी भाग खड़े हुए। किसान उस जगह आया तो उसे सोने की चार गाँठें देखकर अपार प्रसन्नता हुई। वह एक गाँठ लेकर घर आया। स्त्री को आवाज दी।

स्त्री ने कहा—भाजी खाओ तो किवाड़ खोलूँ !

किसान बोला—जल्दी खोल, तुझे खुश कर दूंगा।

किसान—बोल मत। ऐसी तीन और पड़ी हैं।

किसान उलटे पाँव गया और शेष गाँठें ले आया।

भाइयो ! किसान ने एक भाजी न खाने की प्रतिज्ञा की तो वह निहाल हो गया। तुम भी धर्म करोगे तो निहाल हो जाओगे यह लोक भी सुधर जायगा और परलोक भी सुधर जायगा। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द हो जायगा। *

३०-९-४८ }
आसीन }

* यह व्याख्यान सुनकर अनेक अजैन ग्रामीण श्रोताओं ने हिंसा, चोरी, शराब आदि का त्याग किया।

जहा लाहो तहा लोहो

स्तुतिः—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

आचार्य महाराज ने इस पद्य में बड़ा ही सुन्दर भाव प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं—हे जगत् के भूषण ! हे नाथ ! जो भव्य पुरुष आपका गुणगान करता है, आपकी उपासना करता है, अपने निर्मल हृदय में आपको स्थापित करता है, आपकी भक्ति

में तल्लीन बन जाता है और आपके द्वारा प्रदर्शित मुक्तिपथ पर गमन करता है, वह आपके समान ही बन जाता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आखिर ऐसे स्वामी का आश्रय लेने से क्या लाभ है जो अपने आश्रितजन को वैभव से अपने समान नहीं बना लेता ?

भाइयो ! धनवान् पुरुष की संगति करने वाला यदि कंगाल ही रह गया तो उसने वास्तव में धनवान की संगति ही नहीं की है, या वह धनवान वास्तव में धनवान हो नहीं है। सेठ अपने वफादार मुनीम को सेठ बना देता है। मुनीमी करते-करते कुछ दिनों में वह भी सम्पत्तिशाली बन जाता है। ऐसा होने में ही सेठ का गौरव है और मुनीम की वफादारी की सार्थकता है। जीवनपर्यन्त सम्पूर्ण निष्ठा के साथ सेठ की सेवा की और मुनीम ज्यों का त्यों बना रहा तो इसमें सेठ का कोई गौरव नहीं है।

पारस के संसर्ग से लोहा भी सोना बन जाता है, किन्तु रांगा सोना नहीं बनता। अब विचारणीय बात यह है कि इसमें दोष किसका है। रांगा के सोना न बनने का उत्तरदायित्व पारस का है या रांगे का ?

दर्शनशास्त्र का नियम है कि इस जगत् में कभी कोई अभूत-पूर्व पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता। यही नहीं, बल्कि किसी पदार्थ में सर्वथा नूतन कोई शक्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती। पदार्थों का केवल रूपान्तर होता है। आज कोई वस्तु एक रूप में है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सामग्री मिलने पर वह दूसरा रूप ग्रहण कर लेती है। इसे जैनदर्शन में पर्यायों का पलटना कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में क्षण-क्षण में यह पर्यायपरिवर्त्तन होता रहता है। जगत

में जो परिवर्त्तनशीलता दिखलाई देती है जो रूपान्तर होते नजर आते हैं, उन सब का कारण यही है। पदार्थ में स्वतः परिवर्त्तित होने का धर्म है। ऐसा न होता तो लाख कारण मिलने पर भी उसमें परिवर्त्तन नहीं हो सकता था।

दो प्रकार के कारण हैं-उपादान कारण और निमित्त कारण। जो कारण आगे चलकर स्वयं कार्य का रूप ग्रहण कर लेता है, वह उपादान कारण कहलाता है। जैसे-कुंभार मिट्टी से घड़ा बनाता है, जुलाहा सूत से कपड़ा तैयार करता है, रसोइया आटे से रोटी बनाता है और लुहार लोहे से अनेक प्रकार के औजार बनाता है। इन सब कार्यों को करने में मिट्टी, सूत, आटा और लोहा आदि अपेक्षित है। क्योंकि मिट्टी ही घड़े का रूप धारण कर लेती है, सूत कपड़े के रूप में आ जाता है, आटा रोटी की शक्ल ग्रहण कर लेता है और लोहा औजारों के रूप में परिणत हो जाता है। यह सब उपादान कारण है।

उपादान कारण के अतिरिक्त शेष जो भी कारण हैं, सब निमित्त कारण कहलाते हैं। निमित्त कारण, कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षित तो अवश्य है, मगर वह उपादान कारण को भाँति स्वयं कार्य नहीं बन जाता, वरन् कार्य से जुदा का जुदा ही रहता है।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में दोनों ही प्रकार के कारणों की आवश्यकता होती है। एक के भी अभाव में कार्य नहीं हो सकता।

दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि उपादान कारण में कार्य रूप में परिवर्त्तित होने का सामर्थ्य होता है और निमित्त कारण उसे उस रूप में परिवर्त्तित होने में सहायक हो जाते हैं। उपादान

में यह शक्ति न होती तो कार्य-कारणभाव की नियत व्यवस्था, जो हम सर्वत्र देख रहे हैं, विलुप्त हो जाती। फिर तो किसी भी वस्तु से कोई भी पदार्थ बनने लग जाता। कीचड़ में से मक्खन निकाला जा सकता था; रेत से तेल निकलना संभव हो सकता था, सूत से घड़ा बन जाता और मिट्टी से वस्त्र बनने लगता! मगर ऐसा होना त्रिकाल में संभव नहीं है। एक ही उपादान कारण से सभी कार्य नहीं हो सकते।

इसी प्रकार निमित्त कारण के अभाव में भी कोई कार्य नहीं होता। दूध में घी विद्यमान है। उसे निकालने के लिए सहायक कारण तो चाहिए ही। अपने आप दूध, घी नहीं निकाल देता। अपने आप मिट्टी से घड़ा नहीं बन जाता। कुंभार मिट्टी को गीला करता है, चाक पर चढ़ाता है, चाक को घुमाता है, दूसरी-दूसरी चेष्टाएँ करता है, तब कहीं घड़ा बनता है।

मतलब यह है कि इस जगत् में जो भी कार्य उत्पन्न होते हैं, उनके लिए उक्त दोनों कारण अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। किसी भी एक के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके संबंध में मतभेद को कोई अवकाश नहीं है। चाहे वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय और चाहे किसी भी दर्शनशास्त्र की दृष्टि से, कार्य-कारण का यह नियम अकाट्य ही सिद्ध होता है।

हाँ, यह हो सकता है कि कोई किसी कार्य का उपादान कारण गलत स्वीकार कर ले, किन्तु उपादान कारण उसे भी स्वीकार करना ही पड़ता है। इस बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिए दो उदाहरण लीजिए। भारत का चार्वाक दर्शन आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, फिर भी प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली चेतना को वह कैसे अस्वीकार कर सकता है? चेतना को स्वीकार

किये बिना उसके लिए भी कोई चारा नहीं है। अतएव जब यह प्रश्न चार्वाक के सामने उपस्थित हुआ कि अगर आत्मा नहीं है तो चेतना किसका धर्म है ? किस पदार्थ का गुण है ? अथवा चेतना कहाँ से आई ? और यह क्या चीज़ है ?

वास्तव में चार्वाक के पास इस प्रश्न का कोई सही उत्तर नहीं है। उत्तर तो आत्मा का अस्तित्व मानने पर ही ठीक बैठ सकता है, परन्तु उसने आत्मा को स्वीकार नहीं किया। तब फिर विवश होकर उसे यही कहना पड़ा कि भूतों के संयोग से चेतना का आविर्भाव हो जाता है। अब यहाँ विचार होता है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु, यह चार भूत हैं। आकाश को मिलाकर कोई-कोई पाँच भूत भी स्वीकार करते हैं। लेकिन भूत चार हों या पाँच, हैं वे जड़ ही। उनमें चेतना नहीं प्रतीत होती। ऐसी स्थिति में उनके संयोग से चेतना किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ?

दूसरा उदाहरण वेदान्तदर्शन का लीजिए। वेदान्तदर्शन में एक मात्र चेतन की सत्ता अंगीकार की जाती है। चेतन से भिन्न जड़ पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं है। यद्यपि वह माया को स्वीकार करते हैं, परन्तु उसके संबंध में वे निश्चित बात कहने में असमर्थ हैं। वेदान्ती माया को सत् मानें तो उनका अद्वैतवाद-जो उनके दर्शन का मूल आधार है, खत्म हो जाता है। अगर असत्-शून्यरूप-मानें तो आशय यह होता है कि माया कुछ है ही नहीं। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि जगत् में यह जो विविधता दृष्टिगोचर होती है, वास्तव में क्या है ? यह असंख्य और अनन्त पदार्थ क्या हैं ? किस आधार पर इन्हें असत् मानें और किस प्रकार एक मात्र चेतन का ही अस्तित्व स्वीकार कर जड़ की सत्ता से इनकार कर दे।

तब वेदान्तदर्शन कहता है—यह सब जड़ पदार्थ चेतन से ही उत्पन्न हुए हैं, अतएव चेतन से भिन्न नहीं हैं।

इस प्रकार चार्वाकदर्शन चेतन को जड़ का उपादान मानता है। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो दोनों की मान्यता भ्रम-पूर्ण है। क्योंकि जड़ और चेतन की शक्तियाँ और उनके स्वभाव सर्वथा भिन्न हैं, अतएव किसी भी एक से दूसरी वस्तु नहीं उत्पन्न हो सकती।

इतना होते हुए भी यह असंदिग्ध है कि उपादान कारण तो उन्होंने भी स्वीकार किया ही है।

उपादान और निमित्त कारणों को सामने रखते हुए अब हमें यह देखना है कि आत्मा किस प्रकार परमात्मा के रूप को पा सकती है? आत्मा का परमात्मा बनना भी एक कार्य है। यह कार्य तभी निष्पन्न हो सकता है जब दोनों कारण हों। अर्थात् प्रथम तो आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता होनी चाहिए और फिर निमित्त कारण मिल जाने चाहिए।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। अतएव निमित्त मिलने पर वह परमात्मा बन सकती है। भगवान् ऋषभदेव आत्मा की उस शक्ति के आविर्भाव में निमित्त कारण बनते हैं। अतएव यहाँ कहा गया है कि ऋषभ-देव की भक्ति करने से भक्त स्वयं भगवान् बन जाता है।

जिन नाभिनन्दन भगवान् आदिनाथ की उपासना से से उपासक स्वयं उपास्य की पदवी प्राप्त कर लेता है, उन प्रभु को ही हमारा बार-बार नमस्कार है।

वह पारस क्या पारस है, जो लोहे को नहीं सोना कर दे।
वह शक्ति है भगवान् में जो आतम को परमातम कर दे॥

पारस पाषाण लोहे को सोना बना देता है। प्रश्न यह है कि वह रांगा को सोना क्यों नहीं बनाता ? लोहे को ही क्यों बनाता है ? उत्तर यह है कि लोहे में सोना बनने की शक्ति है और रांगे में वह शक्ति नहीं है। इसी प्रकार जिसमें परमात्मा बनने की शक्ति है अर्थात् जिसमें भव्यत्व शक्ति है, वही परमात्मा की उपासना के द्वारा परमात्मा बन सकता है। जो अभव्य है अर्थात् रांगे के समान है, वह परमात्मा नहीं बन सकता। इसमें परमात्मा की कोई त्रुटि नहीं है, क्योंकि आखिर उपादान स्वयं शक्तिहीन है तो निमित्त कारण क्या करे ?

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि पारस लोहे को सोना तो बनाता है, किन्तु पारस नहीं बनाता। अर्थात् वह अपने समान नहीं बनाता। किन्तु परमात्मा का यह असाधारण गुण है कि वे अपने भक्त को पूरी तरह अपने ही समान बना लेते हैं।

भाइयो ! भगवतीसूत्र में अधिकार चलता है कि एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—भगवन् ! मेरे दीक्षित होने के बाद दीक्षा लेने वाले कई मुनि केवलज्ञान पाकर मुक्त हो गये; परन्तु मैं आपका अनन्य भक्त होने पर भी अभी तक केवलज्ञान से वंचित हूँ। इसका क्या कारण है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! तुम्हारे अन्तःकरण में मेरे प्रति मोह है। यह मोह ही तुम्हें केवलज्ञान से वंचित कर रहा है। तुम मोह को जीत लो तो केवलज्ञान रूप लक्ष्मी प्राप्त हो जाएगी।

भाइयो ! गौतम स्वामी चार ज्ञान के धनी, परमोत्कृष्ट तपस्वी और ध्यानी थे। उन्हें भगवान् के ऊपर प्रशस्त मोह था। इस मोह के कारण भी जब वे केवलज्ञान प्राप्त न कर सके तो जगत् के जड़ पदार्थों पर ममता रखने वालों का कैसे कल्याण होगा ? वास्तव में यह मोह आत्मा का बड़ा बलवान् वैरी है। इसे जीते बिना आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता।

मरुदेवी माता का ऋषभदेव के प्रति मोह था। जब वह दीक्षा ले कर तप करने लगे तो माताजी का हृदय उन्हीं को रटता रहा। वह यही कहा करती थीं कि मेरा ऋषभ कब लौटेगा ? कब लौटेगा ? कभी-कभी अपने पौत्र भरत को उपालम्भ दिया करती थीं कि तू मेरे बेटे को बुलाता नहीं है। उसके समाचार भी मँगवाता नहीं है! भरत महाराज दादीजी को आश्वासन दिया करते थे। इस प्रकार मरुदेवी माता दिन--रात ऋषभदेव को ही याद करती रहती थीं।

आखिर एक दिन, केवली होकर भगवान् लौट आए। भरतजी सपरिवार मरुदेवी माता के साथ भगवान् के दर्शन करने गये। उन्हें देखकर माता का हृदय उमड़ पड़ा। वात्सल्य का झरना वेग के साथ वह उठा। बोलीं—

ऋषभजी मूंडे बोल,
बोल बोल आदीश्वर वाला ! कांई थारी मरजी रे !
मांसूं मूंडे बोल।
बोल बोल म्हारा ऋषभ कन्हैया ! कांई थारी मरजी रे !
मांसूं मूंडे बोल ॥टेर॥

सुनी आज मारो लाल पधारियो, विनिता बाग के मांहि रे।
तुरत गज असवारी करने, आई उमाही रे ॥ १ ॥
रह्यो मजा में है सुख साता, खूब किया मन चायो रे।
एक कहन या थांसू लाल, मोड़ों क्यों आयो रे ॥ २ ॥
खैर हुई अणहुई न होवे, एक बात भली नहीं कीधी रे।
गया पाछे कागज नहीं भेज्यो, मोरी खबरा न लीधी रे ॥ ३ ॥
वार त्यौहारे भोजन मांगो, ताता कोई आता रे।
थारी याद में ठण्डा होता, पूरा नहीं भाता रे ॥ ४ ॥
खोलो खोलो जल्दी मौन ने, खोलो खोलो खोलो रे।
बोलो बोलो मांसू बोलो, बोलो बोलो बोलो रे ॥ ५ ॥
थे निर्मोही मोह नहीं आयो, मैं मोह कर कर हारी रे।
मोरा देवी गज होदे गई, मोक्ष मझारी रे ॥ ६ ॥
समत उगणीसे साल चौसठे, भोपाल सेखे कारी रे।
गुरु प्रसादे चौथमल कहे, धन्य मेहतारी रे ॥ ७ ॥

मरुदेवी माता अपने लाड़ले लाल के प्रति इस प्रकार कह रही थी। उनके वचनों में मोह का पुट था। जब तक मोह बना रहा, केवलज्ञान नहीं हुआ। किन्तु अचानक परिणामों की धारा ने दूसरा मोड़ ग्रहण किया। संसार की असारता की ओर भावना चली गई। उसी समय मोह के मेघ वैराग्य की प्रबल वायु के झौंके से छिन्नभिन्न हो गये। मोह के हटने पर हाथी के हौदे पर ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

हाँ, तो भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—गौतम ! जब मोह समूल हट जायगा तो मुझ में और तुझ में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

भाइयो ! जब तक दुविधा है तब तक पूर्ण आत्मनिष्ठा नहीं हो सकती। संसार के, सुख भी चाहो और मोक्ष की कामना भी करो तो यह नहीं बन सकता। जैसे कमल पानी में रहता हुआ भी उससे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार संसार में रहते हुए भी जो संसार से विरक्त रहता है, उसमें आसक्त नहीं होता, उसी का कल्याण होता है !

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर से न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल ॥

बच्चे की माँ मर जाती है तो उसे दूध पिलाने के लिए धाय रक्खी जाती है। बड़े आदमी अन्यान्य कारणों से भी धाय की व्यवस्था करते हैं वह धाय बालक को दूध पिलाती है, खिलाती है, हँसती है और लाड़ करती है। देखने वाले को यह भान नहीं हो सकता कि यह बालक दूसरे का है । किन्तु धाय अपने अन्तः-करण में अनुभव करती है कि वह बच्चा मेरा नहीं है । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष संसार में रहता हुआ और परिवार के बीच रहता हुआ भी अन्तस् में समझता है कि मैं किसी का नहीं हूँ और कोई मेरा नहीं है। उसे विश्वास होता है कि संसार और है, मैं और हूँ।

वास्तव में जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी समझना ही अज्ञान है और यही मोह है। मोह के वश में होकर प्राणी जो अपना नहीं है, उसे अपना मान लेता है।

औरत पानी भरने गई और बच्चा रोने लगा तो बाप उसे गोदी में लेकर पुचकारता है और कहता है—रोओ मत, अभी अपनी माँ आती है। और आने पर कहता है—देख, माँ आगई ! कहिए, वह यह नहीं समझता कि यह किसकी माँ है और किसकी नहीं ?

आदमी शराब पी लेता है और नशे में बेभान हो जाता है तो पत्नी को माता और माता को पत्नी भी कह देता है। इसी प्रकार मोह में पता नहीं चलता। यही कारण है कि मोह को मदिरा की उपमा दी गई है। यद्यपि मोह एक जबर्दस्त विकार है और उसने आत्मा को अभिभूत कर रक्खा है, फिर भी आत्मा की निजी शक्तियाँ भी कम बलवती नहीं हैं। आत्मा जब दृढ़ संकल्प लेता है तो मोह को पराजित होना ही पड़ता है। सब से पहले आत्मिक शक्तियों में समीचीन दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का उन्मेष होता है और उसका उन्मेष होने पर मोह का एक जबर्दस्त व्यूह, जिसे अनन्तानुबंधी मोह कहते हैं, छिन्नभिन्न हो जाता है । इस मोह के नष्ट होने पर सम्यग्दृष्टि प्राणी समझने लगता है कि मैं और ही हूँ और संसार और ही है। मैं सबसे अस्पष्ट और निराला हूँ। वास्तव में आत्मा का किसी भी परपदार्थ के साथ कुछ भी लगाव नहीं है।

ऊपर-ऊपर से ज्ञानी और अज्ञानि में कोई अन्तर दिखलाई नहीं देता। प्रायः ज्ञानी भी वही सांसारिक कार्य करता है जो अज्ञानी करता है। दोनों समान रूप से कुटुम्ब का पालन करते हैं, आजी-विका के लिए व्यापार-धंधा करते हैं, शादी-विवाह करते हैं और दूसरे-दूसरे कार्य भी करते हैं। मगर उन कार्यों के पीछे भावना में महान् अन्तर होता है। इसी अन्तर को समझाने के लिए धाय का उदाहरण दिया गया है। धाय बालक के साथ वैसा ही व्यवहार

करती है, जैसे बालक की माता। फिर भी दोनों की भावना में महान् अन्तर है। धाय में बालक के प्रति आसक्ति नहीं होती, जब कि माता के अन्तःकरण में आसक्ति होती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अनासक्त भाव से क्रिया करता है और मोही-मिथ्यादृष्टि आसक्ति पूर्वक क्रिया करता है। इस भावना भेद के कारण दोनों की क्रियाओं के फल में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव संकट आने पर विचार करता है कि पूर्वोपार्जित कर्म ही उदय में आए हैं तो इन्हें भोगना ही पड़ेगा। इस प्रकार विचार करके वह समभाव से उन को सहन करता है। अज्ञानी जीव पर जब संकट आ पड़ता है तो भोगना तो उसे भी पड़ता है, किन्तु वह हाय-हाय करता है और रामजी को गालियाँ दे-देकर कोसता है। कहता है—अरे रामजी ! तुम्हारा सत्यानाश हो।

इस प्रकार विषमभाव धारण करने से अज्ञानी नवीन कर्मों का बंध करता है किन्तु ज्ञानी जीव कर्मों का बन्ध नहीं करता। अज्ञानी की आत्मा भारी हो जाती है, ज्ञानी की आत्मा हल्की बनती जाती है। कहा है—

ज्ञानी भुगते समभाव से, मूरख भुगते रोय।

मान लीजिए, एक आदमी ने कोई अपराध किया। न्यायालय से उसे कारागार की सजा मिली। कारागार में जाकर वह हाय-हाय करता है, रोता है, बिलखता है और जेलर को गालियाँ देता है। इससे क्या सजा कम हो जायगी ? नहीं, उलटे उसे सख्त सजा का भागी होना पड़ेगा। जेलर ने काल कोठरी में बन्द न किया होगा तो बन्द कर देगा या दूसरी तरह से सख्ती करेगा।

गालियाँ देने के अपराध में न्यायालय के द्वारा उसकी सजा की अवधि और भी बढ़ सकती है। इस प्रकार ऐसा करने से हानि ही हो सकती है, लाभ कुछ नहीं हो सकता।

अब कल्पना कीजिए, एक समझदार व्यक्ति है और उसे किसी कारण जेलखाने की सजा मिल गई। जेल में जाकर वह बराबर जेल के कायदों का पालन करता है, अपने दोष के लिए तो पश्चात्ताप करता है परन्तु न्यायाधीश या जेलर को गालियाँ नहीं देता। ऐसी स्थिति में जेलर उससे सन्तुष्ट रहेगा। उसके सदाचार के कारण उसे छूट मिलेगी और नियत अवधि से कुछ पहले ही वह छुटकारा पा लेगा।

इन दोनों उदाहरणों से समभाव और विषमभाव के अन्तर को भलीभाँति समझा जा सकता। समभाव से सदैव आत्मा की रक्षा होती है। समभाव सुख का कारण है। फिर भी अज्ञानी जीव उसका आश्रय न लेकर विषमभाव की धारा में ही बहते देखे जाते हैं। पाप का फल भोगते हुए परमात्मा को गालियाँ देते हैं—रामजी का खोज जाय! उसने मेरी लुगाई को मार डाला!

कहो भाई! रामजी के छोरे छोकरियाँ हैं क्या? हों भी तो क्या राम किसी को मारने आते हैं? सब अपने-अपने कर्मों से जीते और मरते हैं। कर्म ही जीवन मरण के अन्तरंग कारण हैं। कर्मोदय के विरुद्ध न कोई किसी को मार सकता है, न जिला सकता है। कहा भी है:—

राम किसी को मारे नहीं, सबसे मोटा राम।
खुद ही वह मर जायगा, कर कर खोटे काम ॥१॥

भाइयो ! राम किसी को नहीं मारता। वह तो सब से बड़ा है। मनुष्य स्वयं ही खोटे काम करके मरता है। जब आदमी डाकू बन जाता है, जुल्म करता है और जब पाप प्रकट हो जाते हैं, तो वही पाप उसे खा जाएँगे। जिस रोज़ आ गया सरकार के कब्जे में कि उसी दिन खत्म हो जायगा। आज ही अखबार में पढ़ा था कि चार जागिरदारों को कारागार की सज़ा मिली और एक भागकर बीकानेर रियासत में चला गया। जब किसी भी चीज़ की अति हो जाती है तो उसका फल अच्छा नहीं निकलता। सीता में रूप की अति थी तो रावण उसे चुराकर ले गया। रावण को अपने बल का अत्यन्त घमण्ड था तो वह मारा गया। इस प्रकार अति की इति भी शीघ्र हो जाती है। रिश्वत खाते-खाते, चोर बाजार करते-करते मनुष्य जब पकड़ा जाता है तो सब खाया-पिया निकल जाता है। कहा है—

तुलसी हाय गरीब की, कबहुं न निष्फल जाय।
मरे बैल के चाम से, लोह भस्म हो जाय ॥१॥

जिस लोहे के छुरे से बैल काटा जाता है, उसी की निर्जीव चमड़ी से वह लोहा भी भस्म हो सकता है, यह बात भूलना नहीं चाहिए। आज तुम समझो अथवा न समझो, मगर एक दिन समझना पड़ेगा कि गरीब की हाय व्यर्थ नहीं जाएगी। गरीबों की हाय में वह आग है कि श्रीमंतों की बड़ी-बड़ी हवेलियाँ भी उससे भस्म हो जाएँगी।

आज पुराना युग बीत रहा है और नूतन युग का सूत्रपात हो गया है। आज मानवजाति की धारणाएँ और भावनाएँ एक नवीन दिशा ग्रहण कर रही हैं—नया मोड़ ले रही हैं। इसके फलस्वरूप

गरीब लोग अपने असन्तोष को प्रकट रूप में व्यक्त ही नहीं करने लगे हैं, बल्कि अपने हितों और स्वार्थों की पूर्त्ति के लिए संघर्ष करने पर भी उतारू हो रहे हैं। उनका संगठन दिनोंदिन व्यापक और सुदृढ़ बन रहा है और इसी कारण उनकी शक्ति भी बढ़ रही है। यह सब बातें हवा का रुख स्पष्ट रूप से प्रकट कर रही हैं। समय रहते श्रीमंत लोग अगर सावचेत हो जाएँगे और गरीबों के असन्तोष को उचित ढंग से दूर कर देंगे तो यह बात उनके पक्ष में ही लाभदायक होगी। कदाचित् ऐसा न हुआ और अकड़ की अति बनी रही तो परिणाम बड़ा भयंकर होगा। दूसरे-दूसरे देशों में जो क्रान्तियाँ हुई हैं खूनी इन्किलाब आये हैं, उनसे बचने का यही तरीका है कि हम गरीबों की हाय को शीघ्र शान्त कर दें। उसे अधिक उष्ण न होने दें। उस हाय में से विनाशकारी लपटें निकलने से पहले ही उसे बुझा दें। आखिर हिंसा और रक्तपात से जो क्रान्ति होगी, वही अहिंसा से क्यों न हो ? भारत तो अहिंसा का पुजारी रहा है और आज भी वह अहिंसा की ही नीति का अवलम्बन कर रहा है। अतएव किसी भी वर्ग को ऐसी परिस्थिति उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए, जिससे यहाँ भी हिंसा की बीमारी फैले।

भाइयो ! अधिक स्वार्थ परायणता कभी लाभप्रद नहीं होती। अतएव सदैव न्यायोचित व्यवहार करो और स्वार्थान्ध होकर किसी के प्रति अन्याय मत करो। निश्चित समझ लो कि तुम अपने अन्याय के शिकार आप ही बनोगे। अत्याचारी को अत्याचार का फल भोगना ही पड़ेगा। अतएव समदृष्टि को अपनाओ। जैसे अपने हित को महत्त्व देते हो, उसी प्रकार दूसरों के हितों को भी महत्त्व दो। यही अहिंसा का संदेश है। इसी में जगत् की शान्ति निहित है। जुल्म और अत्याचार किसी के हक में अच्छे नहीं है। कहा है:—

पाप करना छोड़ दे जालिम खुदा के वास्ते।
है ये हरकत नारवां अहले वतन के वास्ते।

ऐ जालिम ! यह हरकतें ठीक नहीं। जितनी बुरी हरकतें हैं, वे उन्हें करने वाले के हक में ही बुरी साबित होती हैं। बुरे काम तुम्हारे हक में ही बुरे साबित होंगे।

बुरा पहले सुख पाएगा,
आखिर तो वह पछताएगा ॥टेर॥
बुरा करता जो काम,
आखिर होता बदनाम।
जेल खाने की ठंडी हवा खाएगा ॥१॥

भाइयो ! बुरे कर्म करने वाले को आखिर पछताना पड़ता है। पहले तो वह समझता है कि हमने अपनी होशियारी से इतना द्रव्य उपार्जन कर लिया, यों धोखा दे दिया, यह कर लिया, वह कर लिया ! मौज में हो गये ! किन्तु जब पाप प्रकट हो जाता है तो सुख समाप्त हो जाता है ! अतएव अगर अपने भविष्य को कंटकाकीर्ण नहीं बनाना चाहते तो बुराई से बचो।

यह अमिट सत्य है कि जो पुरुष पाप का आचरण करेगा, उसे इस लोक में अथवा परलोक में अवश्यमेव फल भोगना पड़ेगा।

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—किये कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

वैद्यराज ने बीमार से कहा—तेरे शरीर में विकार है, अतः तेल और खटाई का परहेज रखना। किन्तु बीमार कहता है कि इन चीजों के बिना तो मैं रह नहीं सकता। जब परहेज नहीं रक्खा तो दोनों घुटने चिपक गये और सूजन आ गई। बीमार फिर वैद्य के पास पहुँचा। वैद्य कहता है—तुमने हमारा कहना नहीं माना। अब मेरी दवा लेनी है तो दो बातें करनी पड़ेगी। अलोनी रोटी और अलोनी मूंग की दाल खानी होगी।

बीमार विचार करता है—पहले वैद्यराज ने कितना सरल परहेज बतलाया था। यदि मान लेता तो आज मजे में सब चीजें खाता। किन्तु हाय, मैंने माना नहीं तो आज यह दुःख भोगना पड़ रहा है।

तो जैसे यह बीमार पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार मोह-ग्रस्त जीव को भी पश्चात्ताप करना पड़ता है। अभी तो यों ही घर-घर भटकता है और औरतों पर खोटी नजर डालता है और कोई मना करता है तो उत्तर देता है कि हम तो नहीं मानेंगे; किन्तु जब जेल खाने की हवा खानी पड़ती है तो कहता है-हाय, मैंने कहना नहीं माना तो आज यह कुफल भोगना पड़ा!

ऐ मनुष्यों! अपना भला चाहो तो बुरे काम मत करो। बुरा काम क्या है? किसी को कष्ट देना, पीड़ा पहुँचाना, झूठ बोलना, चोरी करना, परस्त्री की तरफ घूरना, लालच बढ़ाते जाना, क्रोध करना, घमण्ड करना, छल-कपट करना आदि। यह सब पाप में हैं, किन्तु अधिकांश पापों का मूल लालच है। लालच से प्रेरित होकर ही प्रायः लोग अनेक पापों में प्रवृत्ति करते हैं। लालच के जाल में फँसा हुआ मनुष्य उसमें से निकल नहीं पाता। लालच का कहीं अन्त नहीं आता और मनुष्य पागल होकर उसके पीछे-पीछे

फिरता है। लालच के संबंध में शास्त्र में एक उदाहरण दिया गया है। वह इस प्रकार है—

एक गरीब ब्राह्मण का लड़का था। उसे केवल माता का ही सहारा था। माता ने लड़के से पढ़ने के लिए कहा परन्तु स्वार्थ बिना कौन किसकी सहायता करता है?

एक दिन माता ने लड़के से कहा-बेटा, उज्जैन में तुम्हारे पिताजी के एक मित्र हैं और वे अध्यापक हैं। उनके पास जाओ। वहाँ तुम्हारी शिक्षा की व्यवस्था हो जायगी।

लड़का उज्जैन गया और उस अध्यापक से मिला। लड़के का परिचय पाकर अध्यापक ने कहा-अहा, तुम मेरे मित्र के लड़के हो मैं तो पढ़ा तो दूंगा किन्तु भोजन नहीं करा सकता। और माँग-माँग कर पढ़ोगे तो पढ़ाई में चित्त नहीं लगेगा। इसलिए मैं किसी गृहस्थ के यहाँ तुम्हारे भोजन की व्यवस्था कर दूंगा।

एक परोपकारी गृहस्थ उस लड़के को भोजन कराने के लिए तैयार हो गये। लड़का वहाँ भोजन करता और अध्यापक के पास रहकर पढ़ने लगा। उस गृहस्थ के यहाँ एक सुन्दरी नवयुवती दासी थी और यह लड़का भी नौजवान था। धीरे-धीरे उन लोगों का अनुचित सम्बन्ध हो गया। उसका मन पढ़ाई से उचट गया। जब वह न पढ़ने लगा तो अध्यापक ने पढ़ाना बन्द कर दिया। वह दासी के साथ अलग रहने लगा और माँग-माँग कर जीवन-निर्वाह करने लगा।

जब हृदय में विषयवासना प्रबल हो उठती है तो विद्या की आराधना होना सम्भव नहीं रहता। नीतिकार कहते हैं—

काकचेष्टा बकध्यानं, श्वान निद्रा तथैव च।
ब्रह्मचारी गृहत्यागी, विद्यार्थी पञ्चलक्षणः॥

विद्यार्थी को कौवे की तरह रटन करना चाहिए, बगुले की तरह एकाग्रता रखनी चाहिए, कुत्ते के समान सोना चाहिए, ब्रह्मचर्य की आराधना करनी चाहिए और घर त्याग गुरुकुल में निवास करना चाहिए। जो इन पाँच बातों का पालन करता है, वही ठीक तरह से विद्योपार्जन करने में समर्थ हो सकता है।

एक बार कोई त्यौहार आया। स्त्रियाँ बगीचे में गईं तो यह दासी भी गई। अन्यान्य स्त्रियाँ खूब सजधज के साथ गईं थीं, मगर दासी के पास न आभूषण थे, न उत्तम वस्त्र ही। दूसरी स्त्रियों ने उससे कहा-अरी, तू ऐसा मैली कुचैली क्यों आई है? दासी लज्जित हो गई। वह अनमने भाव से घर आई और पति से बोली-मेरे लिए जेवर और नवीन वस्त्रों का प्रबन्ध करना ही होगा! कब तक इस हालत में रहूँ! मेरी वेषभूषा देख कर स्त्रियाँ टोकती हैं!

पति-अभी तो पेट भरना भी दूभर हो रहा है। ऐसी स्थिति में, तुम्हीं कहो कि जेवर और वस्त्रों का प्रबंध किस प्रकार हो सकता है?

स्त्री-राजाजी प्रतिदिन दो माशा सोना ब्राह्मण को दान करते हैं। जो सबसे पहले पहुँच जाता है, वही सोना पा लेता है। तुम जल्दी जाओगे तो तुम्हीं को मिल जायगा।

ब्राह्मण रात को सोया तो उसे नींद नहीं आई। बारह बजे उठ बैठा और सोने के लोभ में राजमहल की ओर रवाना हो गया। राजमहल के निकट आया तो देखा कि द्वार बंद है। वहीं पानी निकलने की एक मोरी थी। उसने सोचा—इसमें होकर भीतर चला जाऊँ तो सब से पहले पहुँच जाऊँगा। उसने ऐसा ही किया। मगर सिपाहियों ने उसे देखा तो चोर समझ कर पकड़ लिया। पहले तो उसकी मरम्मत की और फिर हिरासत में ले लिया।

ब्राह्मण सोचता है—सोना लेने आया था परन्तु सोना तो एक किनारे रह गया, मार खानी पड़ी और कारागार की विडम्बना भोगनी पड़ी ! हाय, मार भी खाई और सोना भी हाथ न आया !

प्रातःकाल हुआ। यह ब्राह्मण तो हिरासत में रह गया और दो माशा सोना दूसरा ब्राह्मण ले गया। कचहरी का समय हुआ तो ब्राह्मण राजा के सामने उपस्थित किया गया। सिपाहियों ने कहा—पृथ्वीनाथ, यह चोर है, वदमाश है। इसने मोरी की राह से राजमहल में प्रवेश किया है।

राजा ने गौर से ब्राह्मण की सूरत देखी तो उसे लगा कि यह मनुष्य चोर नहीं है, तब उससे पूछा—सच सच कहो, तुम कौन हो ? किस इरादे से तुमने महल में गैरकानूनी तौर से प्रवेश किया है।

संसार में सत्य एक वड़ी शक्ति है। सत्यवादी हाकीम के हृदय में भी अपना स्थान वना लेता है और सहानुभूति का भाव जगा लेता है इसके विपरीत दगावाजी करने वाले को वड़ा भय रहता है। उसके मन में सदैव यही आशंका वनी रहती है कि कहीं मेरी पोल न खुल जाय ! सत्यवादी को ऐसी कोई आशंका या चिन्ता नहीं होगी। सत्य का वल मनुष्य के हृदय को आश्वासन और शक्ति देता है। अतएव सत्यवादी निर्भय रहता है। झूठ वोलने वाला एक वार झूठ वोलकर अपना काम वनाने का प्रयत्न तो अवश्य करता है, परन्तु उसके हृदय में खटका वना रहता है। वह अपने असत्य को छिपाने के लिए जाल रचता है और डरता रहता है कि कहीं मेरी पोल न खुल जाय ! उसे एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठ गढ़ने पड़ते हैं। उसकी आत्मा गिरती ही चली जाती है ! वह सदैव वेचैन रहता है, सशंक रहता है और आप ही अपनी नजरों में गिरा रहता है।

सत्यवादी की वाणी में अनोखा ही बल होता है। उसके चेहरे पर निर्भयता होती है। सत्य उसे निडर बनाता है।

हाँ, तो राजा ने ब्राह्मण से कहा-सब बात सच-सच कह दो ! ब्राह्मण ने आदि से अन्त तक की सब कथा राजा को सुना दी कि वह किस लिए और कैसे दो माशा सोने के लिए आया और पकड़ा गया और पीटा गया !

राजा को ब्राह्मण की बात पर विश्वास हो गया। अतएव राजा ने कहा--तुझे दो माशा सोने के लिए कष्ट उठाना पड़ा है। अतएव जो माँगना हो सो माँग ले !

राजा की बात सुनकर ब्राह्मण को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वह सोचने लगा-क्या माँगना चाहिए ? राजा प्रसन्न हो गये हैं और मुँह-माँगा देने को तैयार हैं तो फिर दो माशा माँग कर क्या करूँगा ? एक तोला क्यों न माँग लूँ ? मगर एक तोले से भी क्या होगा ? पच्चीस अशर्फियाँ क्यों न माँग लूँ ? लेकिन जब यह अशर्फियाँ समाप्त हो जाएँगी तो फिर भिखारी का भिखारी हो जाऊँगा। इससे अच्छा तो यही होगा कि एक हजार मोहरों की माँग कर लूँ। फिर भी सोचा-जब मुँहमाँगा मिल रहा है तो हजार क्यों, पाँच हजार मोहरें क्यों न माँग लूँ ?

कहिए, लोभ का कहीं अन्त है ? इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं:—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठियं ॥

उत्तराध्ययन अ. ८-१७

अर्थात्-ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। लाभ से लोभ को वृद्धि होती है।

पहलेपहल मनुष्य सोचता है कि अमुक मात्रा में सम्पत्ति मिल जाएगी तो मुझे तृप्ति हो जायगी। परन्तु उस मात्रा में जब मिल जाती है तो फिर वही हाल होता है। मनुष्य फिर सोचने लगता है-इतना तो मिल गया है, पर इससे क्या पूरा पड़ेगा ? इतना और मिल जाय तो काम चल-सकता है। इस प्रकार अभिलाषाओं का कहीं अन्त नहीं आता और मनुष्य जिंदगी भर व्यर्थ हो उनकी पूर्त्ति के लिए मरता-पचता रहता है। जिंदगी का जब खात्मा होता है तो सब कुछ छोड़कर चल देता है।

भाइयो ! ब्राह्मण का यह लड़का दो माशा सोने की इच्छा करके घर से निकला था। लेकिन अब देखिए, इसका क्या हाल हो रहा है ! लोभ के पूर में बहता ही चला जता है। कहीं रुकने का ठिकाना नहीं पा रहा है !

किसी भिखारी को एक पैसे के बदले एक रुपया मिल जाय तो भी उसको तृप्ति नहीं होती। वह दस की इच्छा करता है। दस वाले से पूछो कि तुम्हें तो सन्तोष है ? वह कहेगा-नहीं जी, दस में क्या होता है। कम से कम बीस तो हों ! अब बीस वाले से पूछा कि भाई, तुम्हें तो अधिक तृष्णा नहीं है ? सन्तुष्ट हो ? तब कहता है-वाह साहब ! बीस किस गिनती में हैं ! सौ तो चाहिए ही चाहिए ! इस तरह सौ वाला हजार, हजार वला लाख और लाख वाला करोड़ की इच्छा करता ही है। लाभ से किसी को भी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति तो सन्तोष से ही संभव है।

जब तक हृदय में तृष्णा है, तब तक सन्तोष नहीं होता।
आयु का नाश हो जाता है, तृष्णा का नाश नहीं होता॥

किसी ने कितना सुन्दर कहा है—

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।

सच है-आयु का नाश हो जाता है, तृष्णा का नाश नहीं होता। मनुष्य बूढ़ा हो जाता है परन्तु तृष्णा बूढ़ी नहीं होती। वह जब अन्तिम सांस ले रहा होता है तब भी कहता है-बाजार-भाव क्या है ?

जिन लोगों को गरीबी सता रही थी, वह भी इस महँगाई के समय में मालामाल हो गये हैं। उनके पास कई गुनी सम्पत्ति हो गई है। लेकिन उन कंजूसों से कोई कहे कि परोपकार के लिए कुछ करो, तो वे कहते हैं-हमारी शक्ति नहीं है।

भाइयो ! संवत् १६६५ में मैं भीम आया था। उस समय से आज आपके पास पैसा बढ़ा ही है, घटा नहीं है। मगर देखना यह है कि आपकी उदारता उसी परिमाण में बढ़ी है अथवा नहीं ? मन मँगता तो नहीं बन गया है ? सब लोग अपनी अन्तरात्मा से यह प्रश्न पूछो। अगर आपकी उदारता नहीं बढ़ी तो धन के बढ़ने से आपका क्या हित हुआ ? धन के साथ आपकी ममता बढ़ गई। इसका अर्थ यह हुआ कि आपका पाप बढ़ गया है। उस धन की सार-सँभाल करने की चिन्ता बढ़ गई: व्याकुलता बढ़ गई और आरंभ-समारंभ बढ़ गया। यह सब पाप का ही बढ़ना है। ऐसी सम्पत्ति से आपका कुछ भी हित नहीं होने वाला है, बल्कि अहित ही है। हित तभी हो सकता है जब धन पाकर आपके अन्तःकरण में उदारता उत्पन्न हो, परोपकार करने की भावना उत्पन्न हो, दीन दुखी और अनाथ को देखते ही आपकी त्यागवृत्ति उमड़ पड़े और अपने साधनों से उसके दुख को दूर कर दो।

अगर पैसे के साथ कंजूसी बढ़ती है तो तुम भले ही उस सम्पत्ति को पुण्यरूप समझो, ज्ञानी पुरुष उसे पाप के रूप में ही देखते हैं।

भाइयो ! सम्पत्ति के साथ मन का बढ़ना बड़ा कठिन है। जिसके पुण्य का उदय होता है, उसी का मन बढ़ता है। तृष्णा, लोभ और कंजूसी का मिटना साधारण बात नहीं है। अभी जिसके पास पचास हजार हैं, उसे कहा जाय कि दो हजार परोपकार में लगा दो तो उसकी छाती पर साँप लोट जायगा। यों भले डाकू ले जाएँ, चोर ले जाएँ या जेब में से नोट गिर जाएँ ! इसे वह सहन कर लेगा, मगर मूँजी की पूँजी परोपकार में नही लगेगी।

एक सेठानी थी। कोई भिखारी उसके द्वार पर भिक्षा के लिए पहुँचा। मगर सेठानी ने भिखारी की आवाज सुनकर भी अनसुनी कर दी। मानों उसने कुछ सुना ही नहीं है। तब पड़ौसिन बोली–सेठानीजी, बेचरा कबका खड़ा है आस लगाए ! कुछ तो दो।

सेठानी—पैसा है तो क्या उड़ाने के लिए है ? यों ही नहीं आजाता है। बड़ी मुश्किल से कमाया जाता है।

इस प्रकार उस सेठानी ने कभी किसी अनाथ या गरीब को एक पैसा भी नहीं दिया। कुछ दिन बाद यम के दूत आए और सेठानी को ले गये।

सेठ ने दूसरी शादी की। नयी सेठानी आकर घर की मालकिन बन गई। पहली सेठानी का सारा जेवर उसके अधिकार में आ गया। एक दिन फिर कोई भिखारी आया। पड़ौसिन ने उसे देने के लिए कहा तो इस सेठानी ने भी वही उत्तर दिया। संयोग से यह दूसरी सेठानी भी थोड़े दिनों में मर गई।

सेठ ने तीसरी बार विवाह किया। वही जेवर तीसरी सेठानी ने पहना। फिर एक भिखारी आया। पड़ौसिन ने सेठानी से फिर कहा—बहिन, इसे कुछ दो। बड़ी हवेली देखकर आया है। इसे निराश मत करो।

सेठानी अपनी मौज में मस्त। उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। तब वह गरीब पड़ौसिन कहने लगी—सेठानीजी! तुम तीसरी हो। तुमसे पहले दो आईं और चली गईं। उनका गहना तुमने पहना। वे अपने साथ कुछ भी नहीं ले गईं।

कहो भाई! आप तो सब धन अपने साथ ही ले जाओगे न? एक पैसा भी पीछे नहीं छोड़ोगे?

खेद है कि यह मोह से ग्रस्त जीव अपनी आत्मा की ओर किंचित् भी लक्ष्य नहीं देता। सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी न होगा तो भले ही किसी को गोद ले लेगा और उसे सर्वस्व समर्पित कर देगा, किन्तु धर्म के कार्य में व्यय नहीं करेगा। अरे भाई, कहावत है—आप मरे और जग प्रलय! तू चला गया तो तेरे लिए दुनिया ही कहाँ रही?

ऐ मनुष्य! जबतक तू जीवित है, लाखों और करोड़ों का स्वामी कहलाता है। किन्तु मरने के पश्चात् फूटी कौड़ी का भी स्वामी नहीं रहेगा। यह शरीर ही जब छूट जायगा तो धन-सम्पत्ति कैसे साथ रहेगी? कौन वहाँ सम्पत्तिशाली होने के नाते तेरी खुशामद करेगा? अतएव जरा विचार करो। मगर लालच का पर्दा आँखों पर ऐसा जबर्दस्त पड़ा हुआ है कि लालची को सत्य सूझता ही नहीं है। लालच उसके हृदय को और मस्तिष्क को कुण्ठित कर देती है। मनुष्य महासागर का पार पा सकता है, मगर लोभ का पार नहीं है।

वह ब्राह्मण का बेटा सोचता है-मोहरें माँग लूँगा तो थोड़े दिनों में ही समाप्त हो जाएँगी। ऐसी चीज़ माँगनी चाहिए कि जो मेरी जिंदगी भर और मरने पर बाल-बच्चों के भी काम आ सके! ऐसी चीज़ राज्य है। राजा ने कह दिया है जो माँगोगे सो मिलेगा! फिर ऐसी-वैसी वस्तु क्यों माँगू? सारा राज्य ही क्यों न माँगू?

भाइयो! जरा विचार करो कि लालच कितनी बुरी बलाय है! कहाँ दो मासा सोना और कहाँ राजा का सारा राज्य!

मगर उसी समय उसकी विचार धारा ने पलटा खाया। वह सोचने लगा—वाह रे लोभ! कहीं थमने का नाम ही नहीं लेता! दो माशा सोने के लिए तो इतने डंडे खाने पड़े और इतनी मुसीबत उठानी पड़ी, अगर सारा राज्य ले लूँगा तो न जाने कितनी व्यथा भुगतनी होगी! कितनी दुर्दशा होगी! अफसोस! तृष्णा के वशीभूत होकर मेरी नीयत बिगड़ गई! राजा ने मुझ पर अनुग्रह किया। वह मुझे कष्ट से मुक्त करके यथेष्ट दान देना चाहता है और मैं ब्राह्मण होकर इतना पतित हो गया हूँ कि इसका सारा का सारा राज्य ही हड़प लेना चाहता हूँ! भलाई के बदले यह बुराई! मैं राज्य माँग लूँ और कदाचित् वचनबद्ध राजा ने दे भी दिया तो भविष्य में कौन इस प्रकार की उदारता प्रदर्शित करेगा?

इस प्रकार विचार करते-करते कपिल ब्राह्मण ने अपने आपको बहुत धिक्कारा। उसकी दुर्बुद्धि का अन्त आ गया। अन्तरात्मा में सद्विचारों का प्रसार हुआ। जैसे भोजन करके आकंठ तृप्त मनुष्य को कोई मिष्टान्न खाने के लिए कहे तो वह कहता है—नाम न लो मिठाई का; नहीं तो कै हो जाएगी। इसी प्रकार इस ब्राह्मण को भी संसार की सम्पत्ति घृणास्पद प्रतीत होने लगी। उसने सोचा—यह संसार की समस्त सामग्री मनुष्य को चक्कर में

डालने वाली है आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भुलाने वाली है। अनन्त सुख की उपलब्धि में बाधा डालने वाली है। जन्म-मरण के अक्षय स्रोत में बहाने वाली है। इसकी साया में पड़ने वाला जीव कभी कल्याण का भागी नहीं बन सकता।

भाइयो! कपिल ब्राह्मण के चित्त में जो विमल विचारधारा प्रवाहित हुई है उस पर आप भी विचार करो। जो बात उसके संबंध में है, वही सब के संबंध में है। अगर आप आज सावधान नहीं होते और धन-वैभव के लोभ में ही फँसे-फँसे सारा जीवन यापन कर देते हैं तो याद रखना कि अन्तिम समय में आपको पश्चात्ताप की आग में जलना पड़ेगा। मृत्यु के समय आप सोचेंगे कि—हाय! आगे के लिए मैं ने कुछ भी नहीं किया। मुझे कहने वाले मिले थे कि दान दो, शील पालो, तपस्या करो और शुद्ध भावना रक्खो, किन्तु मैं ने इनमें से कुछ भी नहीं किया। उनकी बात पर कान नहीं दिया! उस समय मैं ने सोचा—यों ही बकते रहते हैं। इनका धंधा यही है! यह बकते रहेंगे, अपने को सुन लेना है और अपने रास्ते चलना है। किन्तु आज ऐसा जान पड़ता है कि उनका कथन सोलह आने सत्य है। मैं अठारह पाप करके उपार्जित धन-राशि को यहीं छोड़ कर जा रहा हूं। अब इस पर मेरा कोई अधिकार न होगा! मर कर कुत्ते की योनि में उत्पन्न हुआ और इस घर में प्रवेश करना चाहा तो कोई प्रवेश नहीं करने देगा। यही नहीं, डंडों से मेरा स्वागत किया जायगा! मेरे परिश्रम का यह पुरस्कार!

हाँ, तो कपिल ब्राह्मण विचार करता है—मैं राजा का राज्य ले लूँगा तो क्या वह दासी मुझे स्वर्ग में ले जायगी? हाय मैं कितना पतित हो गया हूँ! मैं राजमान्य पुरोहित का पुत्र गिरते-गिरते कितना गिर चुका हूँ? मैं कितनी नीच विचारश्रेणी में जा पहुँचा हूँ! खेद! मुझे सावधान होना चाहिए!

इस प्रकार की उज्ज्वल विचारधार के उत्पन्न होते ही उसे ज्ञान उत्पन्न हो गया और ज्ञान होते ही वैराग्य हो गया !

राजा ने कहा-ब्राह्मण ! क्या सोच रहे हो ? माँग लो जो माँगना हो ! मैं देने को तैयार हूँ।

कपिल ने हल्की मुस्कराहट के साथ कहा-राजन् ! यही सोच रहा था कि क्या माँगना चाहिए ! मगर अब समझ में आ गया है। संसार की कोई भी वस्तु मेरे काम की नहीं है; क्योंकि सब वस्तुएँ अस्थिर हैं और आत्मकल्याण की विघातक हैं। अन्त में कोई भी वस्तु साथ नहीं जाएगी। हाथ में पहनी हुई अंगूठी भी घर वाले निकाल कर रख लेंगे। ऐसी वस्तुओं के फेर में पड़ना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

ब्राह्मण ने कुछ रुक कर कहा-राजन् ! यह न समझिए कि मुझे कुछ नहीं मिला है ! मुझे बहुत कुछ मिला है। जिसके मिलने पर संसार में कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, वही वस्तु मुझे मिल गई है। अब मेरी आत्मा शान्त है, सन्तुष्ट है और प्रकाशमय हो गई है। मुझे ब्रह्मज्ञान मिल गया है ! इसके सामने सारा संसार तुच्छ है। जिसे ज्ञान मिल गया, उसे क्या पाना बाकी रह गया ! आज तीनों लोकों की सम्पदा मेरी दृष्टि में तुच्छ है ! भोग भुजंग के समान भासित हो रहे हैं। विषय विष के रूप में दिखलाई देते हैं। सम्पत्ति विपत्ति जान पड़ती है। अब तक मैं जगत् के स्वरूप को ठीक तरह नहीं समझता था, अब समझने लगा हूँ। मैं अब इस ज्ञानानन्द को छोड़ कर दुनिया के चक्कर में नहीं पड़ूँगा तपस्या करके आत्मा का कल्याण करने में ही दत्तचित्त हो जाऊँगा।

यह कह कर कपिल ब्राह्मण अपने घर न जाकर सीधा जंगल की ओर चला गया। राजा और राजसभा के दूसरे लोग चकित रह

गये। ब्राह्मण की तीव्र विरक्तिभावना ने सबको प्रभावित किया।

भाइयो! कपिल ब्राह्मण ने अपना कल्याण-साधन कर लिया। वह एक बार पथभ्रष्ट हो गया था। मोह के फंदे में पड़ गया था। मगर उसकी आत्मिक शक्ति ने प्रबल रूप धारण किया और मोह की सघन घटाओं को छिन्न भिन्न कर दिया। इस घटना से आप यह समझ सकते हैं कि कोई कितना ही पतित क्यों न हो गया हो, अगर चाहे तो अपना परम कल्याण कर सकता है। आत्मोन्नति का द्वार सभी के लिए सदा काल खुला रहता है। अतएव किसी को निराश होने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि आत्मा में सुदृढ़ संकल्पबल उत्पन्न किया जाय और उन्नति के पथ पर सबल कदमों से चला जाय!

जैसे कपिल ने मोह को पराजित करके आत्मसाधना की, उसी प्रकार आप भी मोह को पराजित करो। इतना न बन सके तो कम से कम उसे सीमित ही करो। सीमित करने पर एक दिन आपका बल बढ़ जायगा और आप पूर्ण रूप से मोह को जीत सकेंगे। हमारा यह कहना न मानोगे तो अन्त में पछताना पड़ेगा और उस समय पछताने से भी कोई लाभ नहीं होगा। अतएव भाइयो! समय रहते चेतो। सावधान हो जाओ। पाप से बचो और धर्म की शरण लो। धर्म की शरण में जाने से आप अक्षय अव्याबाध आत्मिक सुख के अधिकारी बन जाएँगे और आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।*

५-२-४६ }
भीम }

*आज का प्रवचन सुनने के लिए डिप्टी कलेक्टर, आबकारी कलेक्टर और अनेक हिन्दू तथा मुसलमान भाई आये थे।

१३

श्रेयस्करी श्रद्धा
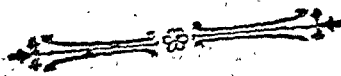
स्तुतिः—

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयम्,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत्॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान् पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? हे प्रभो! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ?

हे आदिदेव! हे नाभेय प्रभो! आप अनिमेष विलोकनीय हो। आपका मुखचंद्र देखने वाले को यही इच्छा होती है कि जितनी देर आपका दर्शन हो, उतनी देर तक पलक नहीं गिरना चाहिए। बीच-बीच में पलक गिरने से देखने में विघ्न होता है और देखने

का लाभ चला जाता है। अपूर्व और अद्भुत वस्तु को देखते समय आँख के पलक गिरते भी नहीं हैं। जिस वस्तु को देखते-देखते पलक झप जाएँ, समझना चाहिए कि उसमें कुछ न कुछ खामी है। भगवान् का बाह्य सौन्दर्य असाधारण और आन्तरिक तो उससे भी अधिक असाधारण है। उसे देखकर कौन नहीं चाहेगा कि मैं भगवान् को अपलक नयनों से निहारता रहूँ!

रुचिकर वस्तु का सेवन करके इन्द्रियाँ चटोरी हो जाती हैं, प्रभु का रूप देखकर आँखें उनके रूप की चटोरी बन जाएँ तो क्या आश्चर्य है? एक देहाती शहर में जा रहता है और वहाँ तरह-तरह की स्वादिष्ट चीजें खाता है, तो उसकी जीभ चटोरी हो जाती है। फिर छोटे गाँव में उसे मजा नहीं आता। इसी प्रकार हे नाभिनन्दन! मेरी आखें आपके रूप की चटोरी बन गई हैं। अब इन्हें किसी दूसरे को देखना नहीं सुहाता।

जिसने क्षीरसागर के मधुर जल का आस्वादन किया है, उसे साधारण समुद्र-लवणसमुद्र-का पानी पसंद नहीं आ सकता। इसी प्रकार जिसे भगवान् आदिनाथ की परमसौम्य वीतराग निर्विकार छवि निहारने का परम सौभाग्य प्राप्त हो गया, उसे किसी दूसरे का रूपसौन्दर्य आकर्षित नहीं कर सकता।

भगवान् की छवि अनूठी होती है। प्रधान और जगत् के सर्वोत्तम परमाणुओं से उनके शरीर का निर्माण होता है। अलौकिक दीप्ति देदीप्यमान उनका मुखमण्डल बड़ा ही सुहावना होता है। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। हृदय की भावनाओं का भी चेहरे से घनिष्ठ संबंध होता है। कहा भी है—

वक्त्रं वक्ति हि मानसम्।

अर्थात्—चेहरा मनोभावनाओं को बतला देता है।

अन्तःकरण में यदि प्रशस्त भावनाएँ हैं तो चेहरा सौम्य और सुन्दर होगा। उसे देखकर दूसरों को प्रसन्नता होगी। इसके विपरीत जिसके मन में पाप भरा रहता है, जो निर्दय, क्रूर और कुटिल होता है, उसका चेहरा भी विकृत होता है। इस प्रकार अन्तःकरण की कलुषित भावनाएँ चेहरे को भी कलुषित कर देती हैं।

इस दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि भगवान् जिनेन्द्र का चेहरा कितना भव्य, कितना प्रशस्त, कितना सौम्य और कितना मनोमोहक न होगा ? जिनका चित्त अनन्त करुणा से ओतप्रोत हो और जिन्होंने समस्त आन्तरिक विकारों का समूल उन्मूलन कर दिया हो, उनकी मनोहारिणी छवि को कोटि-कोटि जिह्वाएँ भी नहीं कह सकती। ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा वार-वार नमस्कार हो !

भाइयो ! दर्शन शब्द बहुप्रचलित शब्द है। उसका अर्थ होता है देखना। कहा जा सकता है कि भगवान् के समकालीन भव्य जीव तो भगवान् की मुखमुद्रा का दर्शन करके अनन्त पुण्य का उपार्जन कर लेते थे, किन्तु आज भगवान् मौजूद नहीं हैं। हम किस प्रकार उनका दर्शन कर सकते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हाकिम चला जाता है, परन्तु उसका हुक्म कायम रहता है। वैद्यराज चल देते हैं, परन्तु उनके नुस्खे विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार यद्यपि आज भगवान् नहीं हैं, तथापि भगवान् के सिद्धांत, उनके उपदेश, आज भी शास्त्रों में सुरक्षित हैं। भगवान् का सिद्धान्त भी दर्शन कहलाता है। वह आपको और हम को सुलभ है। उसी के सहारे हम अपनी आत्मा का उत्थान कर सकते हैं।

भगवान् जब स्वयं इस धरातल पर विराजमान थे, तब भी आपका हाथ पकड़ कर मोक्ष में नहीं भेज सकते थे। उस समय भी भगवान् के उपदेश पर चलने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता था। वही उपदेश आज भी हमें प्राप्त हैं। भगवान् के प्रति जिसके हृदय में शुद्ध श्रद्धा है, जो भगवान् द्वारा प्रदर्शित पथ को ही एक मात्र कल्याण का पथ मानते हैं, वे तो आज भी अपना कल्याण कर सकते हैं। अतएव भगवान का क्षरदेह (नाशवान् शरीर) न होने पर भी उनके अक्षरदेह से ही लाभ उठाना चाहिए और अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिए।

दर्शन शब्द के अनेक अर्थ हैं। उनमें एक अर्थ श्रद्धान करना भी है। सम्यक् श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन मोक्ष-मार्ग की पहली सीढ़ी है। जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक न सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है और न सम्यक्चारित्र ही। सम्यग्दर्शन का स्वरूप शास्त्र में इस प्रकार कहा है—

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इइ सम्मत्तं मए गहियं॥

अर्थात्-वीतराग देव ही मेरे आराध्य प्रभु हैं, पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले, निरारंभ, निष्परिग्रह सच्चे साधु ही मेरे गुरु हैं और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही धर्म है; इस प्रकार के सम्यग्दर्शन को मैं धारण करता हूँ।

अन्यत्र कहा है—

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावण्ण-कुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा॥

भाइयो ! प्रथम तो अनादिकालीन अज्ञान के कारण जीव को शुद्ध श्रद्धा प्राप्त होना ही कठिन है। इस संसार में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर प्रचलित हैं तरह- तरह की मान्यताएँ फैली हुई हैं। उन सबसे बचकर शुद्ध सिद्धान्त को समझना और उस पर श्रद्धा करना बड़ा ही कठिन कार्य है। जब अन्तरंग कारण पूर्ण रूप से मिल जाते हैं और बाह्य निमित्त उपस्थित हो जाते हैं, तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन का अन्तरंग कारण अनन्तानुबंधी कषाय और दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होता है। अनन्तानुबंधी कषाय की चार प्रकृतियाँ हैं–क्रोध मान, माया और लोभ। तथा दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ हैं–मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय। यह सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व की बाधक हैं। उनके सातों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्षायिक सम्यक्त्व अतिशय निर्मल होता है और एक बार प्राप्त होने पर फिर कभी नष्ट नहीं होता। वह सादि अनन्त है।

मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का शान्त हो जाना उपशम कहलाता है। जैसे आग को राख से ढक देने पर वह ऊपर से शान्त हो जाती है किन्तु नष्ट नहीं हो जाती, उसी प्रकार उक्त सातों प्रकृतियों के उपशान्त होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। वह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। उपशान्त हुई मोह की प्रकृतियाँ थोड़ी ही देर उपशान्त रहती हैं। तत्पश्चात् उदय में आ जाती हैं। इस कारण औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तमुहूर्त्त की है। अन्तमुहूर्त्त के पश्चात् इस सम्यक्त्व का नाश हो जाता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा यहाँ ध्यान देने योग्य है। यद्यपि यह सम्यक्त्व अड़तालीस मिनिट से भी कम समय तक रहता है, तथापि

आत्मा पर ऐसा प्रभाव छोड़ जाता है कि वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाने पर भी अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्त्तन काल तक ही मिथ्यादृष्टि रहता है। इसके पश्चात् सम्यग्दृष्टि होकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

तीसरा सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक है। पूर्वकथित सात प्रकृतियों में से कुछ का क्षय और कुछ का उपशम होने पर इस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का अन्तरंग कारण मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम और क्षयोपशम समझना चाहिए।

बहिरंग कारण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। किसी को तीर्थंकर भगवान् के दर्शन से, किसी को तीर्थंकर की वाणी श्रवण करने से किसी को तीर्थंकर का अतिशय देखने से, किसी को निर्ग्रन्थ साधु के दर्शन या उपदेश से, किसी को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न होने से, किसी को वेदना के अनुभव से और किसी को और ही किसी कारण से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि अन्तरंग निमित्त मिले बिना अकेले बहिरंग कारण से सम्यक्त्व का लाभ कदापि नहीं हो सकता। सम्यक्त्व पाने के लिए अनन्तानुबंधी कषाय को जीतना ही होगा और दर्शनमोहनीय को भी क्षीण या उपशान्त करना होगा।

भाइयो! इस प्रकार से प्राप्त हुआ सम्यक्त्व अपूर्व प्रभाव--शाली होता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सम्यक्त्व के अभाव में, कितना ही ज्ञान क्यों न हो, मिथ्याज्ञान ही रहता है। कठोर से कठोर तपश्चर्या भी संसार का ही कारण होती है। सम्य--क्त्व का उदय होते ही ज्ञान और चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के रूप में परिणत हो जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव यदि चारित्र की आराधना न करे तो भी वह नरकगति, और तिर्यञ्चगति की आयु नहीं बाँधता। वैमानिक निकाय के अतिरिक्त अन्य देवनिकायों में भी जन्म नहीं लेता। दुष्कुल में उत्पन्न न होकर सुकुल में उत्पन्न होता है। अल्पायुष्क नहीं होता। आशय यह है कि सम्यक्त्व के प्रभाव से जीव आगामी भव में सद्गति का और उच्च स्थिति का अधिकारी बनता है। कहा भी है:—

अन्तर्मुहूर्त्तमपि यः समुपास्य जन्तुः,
सम्यक्त्वरत्नममलं विजहाति सद्यः।
बम्भ्रम्यते भवपथे सुचिरं न कोऽपि,
तद् बिभ्रतश्चिरतरं किमुदीरयामः॥

अर्थात्-जो जीव अन्तर्मुहूर्त्त के लिए भी निर्मल सम्यक्त्व रूपी रत्न की उपासना करके, शीघ्र ही उसे त्याग देता है, वह भी चिरकाल तक संसार रूपी अटवी में नहीं भटकता है। ऐसी स्थिति में लम्बे समय तक सम्यक्त्व को धारण करने वालों का तो कहना ही क्या है? वे तो शीघ्र ही समस्त दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। और भी कहा है:—

विनैकमङ्कं शून्यगणा वृथा यथा,
विनाऽर्कतेजो नयने वृथा यथा।
विना सुवृष्टिं च कृषिर्वृथा यथा,
विना सुदृष्टिं विपुलं तपस्तथा॥

अगर आपने एक, दो, तीन, चार पाँच या और भी ज्यादा

बिंदियाँ लगा दीं, किन्तु एका नहीं लगाया तो उन बिंदियों का क्या मूल्य है ? वह किसी गिनती में नहीं आ सकतीं। तो एका के बिना शून्य-राशि व्यर्थ है। इसी प्रकार आँखों के बिना सूर्य का तेज व्यर्थ है। मध्याह्न का सूर्य भले तप रहा हो, मगर आँखों में तेज न होगा तो वह किस काम का ? इसी तरह किसान बीज बो दे किन्तु अनुकूल वर्षा न हो तो वह कृषि व्यर्थ हो जाती है। ठीक इसी प्रकार यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है तो घोर से घोर तप भी मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से बिलकुल बेकार है। अर्थात् सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्ष की मंजिल एक भी कदम नजदीक नहीं आती है।

यही कारण है कि आचार्यों ने बड़े ही महत्त्वपूर्ण और सुन्दर शब्दों में सम्यक्त्व का महत्त्व प्रकट किया है। एक आचार्य कहते हैं—

अप्राप्ते बोधिरत्ने हि, चक्रवर्त्यपि रङ्कवत् ।
सम्प्राप्ते बोधिरत्ने तु, रङ्कोऽपि स्यात्ततोऽधिकः ॥

चक्रवर्त्ती चौदह असाधारण रत्नों का स्वामी होता है। परन्तु उसे अगर सम्यक्त्व रूपी रत्न प्राप्त नहीं है तो उसके वह चौदहों रत्न व्यर्थ हैं। वह चौदह रत्नों, नौ निधियों और सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का अधिपति होने पर भी रंक दीन हीन और गरीब के समान है। इसके विपरीत जिसे सम्यक्त्व रूपी रत्न प्राप्त है, वह पौद्गलिक दृष्टिकोण से रंक होने पर भी आन्तरिक वैभव की अपेक्षा चक्रवर्त्ती से भी बढ़ा-चढ़ा है। चक्रवर्त्ती भी सम्यग्दृष्टि रंक के सामने तुच्छ है !

दूसरे आचार्य कहते हैं—

वरं नरकवासोऽपि, सम्यक्त्वेन समायुतः ।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य, निवासो दिवि राजते ॥

सम्यक्त्व से युक्त होकर नरक में निवास करना अच्छा, किन्तु सम्यक्त्व से रहित होकर स्वर्ग में निवास करना ही अच्छा नहीं है !

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि सम्यक्त्व धर्म की प्रथम सीढ़ी है। सम्यक्त्व के अभाव में कोई कैसी भी कठोर क्रिया क्यों न करे, किसी भी वेष को धारण क्यों न कर ले, भव सागर से उसका निस्तार नहीं हो सकता।

जब अन्तरंग में सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति होती है तो अनन्तानुबंधी कषाय नहीं रहता। इस कषाय का विनाश होने से आत्मा में अपूर्वशान्ति उदित होती है। क्रोध, मान, माया और लोभ की तीव्रतम स्थिति का अन्त आ जाता है। समभाव जागृत हो जाता है। ऐसा जीव चाहे पापों का त्याग न करे, फिर भी वह उन्हें त्याज्य अवश्य समझने लगता है। उसे हेय-उपादेय का विवेक हो जाता है। संसार को त्याज्य और मोक्ष को उपादेय मानने लगता है। उसका विभ्रम नष्ट हो जाता है। दृष्टि निर्मल हो जाती है। आत्मा में अपूर्व ज्योति जागने लगती है। सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य प्रकट हो जाते हैं। वह प्राणी मात्र पर अनुकम्पा का भाव धारण करता है। स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, और आत्मा-परमात्मा पर उसकी प्रगाढ़ प्रतीति हो जाती है। सम्यग्दृष्टि में अनिवार्य रूप से यह पाँच लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव अनेक प्रकार के होते हैं। कोई बड़े विचक्षण, तत्त्वज्ञ, वादविवाद में मिथ्यात्वियों को पराजित करने वाले और अपने सिद्धान्त पर सुमेरु की तरह अटल होते हैं। कोई-कोई अल्पज्ञानी, भोले और कच्ची बुद्धि के भी होते हैं। वे मिथ्यादृष्टियों के संसर्ग में, आकर अपने सम्यक्त्व-रत्न को गँवा न दें, इस अभि-

प्राय से यह आवश्यक समझा जाता है कि वे मिथ्यात्वी जनों के सम्पर्क से बचते रहें। उनके साथ अत्यन्त घनिष्ठता-अपनापन-स्थापित न करें। क्योंकि—

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।

अर्थात्—संगति से दोष भी उत्पन्न होते हैं और गुण भी उत्पन्न होते हैं दोषी की संगति से दोष और गुणी की संगति से गुण आते हैं।

जो स्वयं श्रद्धाभ्रष्ट है वह आप भी डूबेगा और दूसरों को भी ले डूबेगा। श्रद्धाहीन सोचता है-ईश्वर नहीं, नरक और स्वर्ग नहीं, तथा पुण्य और पाप भी नहीं है! मगर उसकी समझ में यह सब न होने से ही इनका अभाव नहीं हो जाता। अन्त में उसे अपनी कुश्रद्धा का कुफल भुगतना पड़ेगा। वह परलोक में दुखी होगा। उसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा कि-हाय, मैंने सद्गुरुओं की बात न मानी और अपनी हेकड़ी में ही मस्त रहा! अब कौन मुझे यमदूतों की ताड़ना से बचाएगा?

भाइयो! विश्वास बहुत बड़ी चीज है। संस्कृतभाषा में एक उक्ति है—विश्वासः फलदायकः' अर्थात् विश्वास रखने से ही फल की प्राप्ति होती है। जिसको धर्म, ईश्वर और गुरु पर विश्वास नहीं है, वह मनुष्य किस काम का है? औरतों में ही देख लो कि जो स्त्री एक अपने पति पर ही विश्वास रखती है उसके बच्चा-बच्ची होते हैं और सब ठाठ लगा रहता है, किन्तु वेश्याएँ अनेक पति करके भी एक सन्तान नहीं पा सकतीं; क्यों कि उनके हृदय में विश्वास नहीं है।

गीता में कहा है:—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् ।

अर्थात्—ज्ञान उसी को प्राप्त होता है, जो शुद्ध श्रद्धा वाला होता है।

अब यह बात स्पष्ट है कि सब से बड़ी श्रद्धा है। जिसके अन्तःकरण में देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा है, उसका कल्याण होता है और यदि श्रद्धा नहीं है तो कल्याण भी नहीं हो सकता। शास्त्र में कहा हैः—

नादंसणिस्स नाणं णाणेण विणा न होन्ति चरण गुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

—श्रीउत्तराध्ययन, अ. २८

अर्थात्—जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है, उसे ज्ञान नहीं हो सकता और ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं हो सकते। चारित्र-गुण के अभाव में आत्मा के साथ बद्ध कर्म अलग नहीं हो सकते और कर्मों के अलग हुए बिना निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं है।

सम्यग्दर्शन के संबंध में शास्त्रों में बहुत विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। उस सबको कहने का समय नहीं है। तथापि आपके सामने जो मुख्य-मुख्य और मूलभूत बातें रक्खी गई हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए आपको अपनी आत्मा टटोलनी है। आपको देखना है शास्त्रोक्त सम्यक्त्व आपमें है अथवा नहीं? यों तो किसी न किसी सन्त-मुनिराज से आपने समकित ग्रहण की होगी, किन्तु मैं असली समकित की बात कह रहा हूँ। आपकी ली हुई समकित व्यवहार--समकित है। वह तभी सफल और सार्थक हो सकती है, जब आपको निश्चयसम्यक्त्व प्राप्त हो जाय।

जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट है, समकित लेने और देने की वस्तु नहीं है। न कोई किसी को सम्यग्दर्शन दे सकता है, न कोई किसी से ले सकता है। वह तो अनन्तानुबंधी और दर्शनमोह का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होने पर ही प्राप्त हो सकती है। अतएव अगर आपके अन्तःकरण में एक वर्ष से अधिक कषाय नहीं ठहरता है और समभाव, अनुकम्पा आदि प्रकट हो गये हैं, तो आपको समकित प्राप्त हो गया यह माना जा सकता है। अगर आपके हृदय से कषाय की तीव्रतम ज्वालाएँ निकलती रहती हैं, आपके दिल में दया नहीं है, आपको संसार त्याज्य प्रतीत नहीं होता, गृहस्थी में रहते हुए भी संसार से आपकी मनोवृत्ति अलिप्त नहीं है, अगर आपकी वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय जैनधर्म पर सुदृढ़ आस्था नहीं है और तत्त्व पर श्रद्धा नहीं है; तो समझना चाहिए कि आपको अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त करना शेष है। आप भले ही जैनकुल में उत्पन्न हुए हैं और लोकाचार के अनुसार या कुल--परम्परा का निर्वाह करने के लिए कोई क्रिया करते हों, मगर वह क्रिया मोक्षमार्ग की गणना में नहीं आएगी।

भाइयो ! मेरे कहने का अर्थ उलटा मत लेना। मेरा आशय यह नहीं है कि आप व्यवहार से जो क्रियाएँ कर रहे हैं, उनका त्याग कर दें। मेरे कहने का आशय यह है कि अगर आपमें वास्तविक सम्यक्त्व के लक्षण नहीं हैं तो उन्हें प्राप्त करें। क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में ऊपरी क्रियाएँ मृतक शरीर को सजाने के समान हैं। जिस शरीर में प्राण होते हैं, उसी का शृंगार शोभा देता है। अतएव आप सम्यग्दर्शन रूपी प्राण को जागृत करें। तभी आपका अनुष्ठान फलदायी होगा।

जिसकी अन्तरात्मा शुद्ध श्रद्धा से जगमगा रही होगी, वह

परमात्मा के अतिरिक्त किसी भूत, पिशाच आदि को तथा कुदेवों को मस्तक नहीं झुकाएगा। इसी प्रकार कुगुरु के आगे नहीं झुकेगा। भय से, आशा से, अनुराग से या लोभ-लालच से किसी को धर्म भाव से सिर नहीं नमाएगा। वह तो यही समझेगा कि परमात्मा ही सब से बड़े हैं।

किसी-किसी के दिमाग में नाना प्रकार के तर्क-वितर्क शंकाएँ और प्रशंकाएँ उठती रहती है। वह सोचता है—कौन जाने परलोक है या नहीं? नरक और स्वर्ग है अथवा नहीं? लोगों को ठगने के लिए ही तो यह सब कल्पनाएँ नहीं कर डाली गई हैं? इस प्रकार का संशय जिसके मस्तिष्क में बना रहता है, उसकी अन्तरात्मा शुद्ध नहीं है और वह कभी दृढ़ता के साथ आत्मा के कल्याण की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। उसकी शुद्ध श्रद्धा इस प्रकार के संदेहों के कारण नष्ट हो जाती है।

एक आचार्य के चार चेले थे। सब से छोटा चेला बच्चा ही था। अतः आचार्य उस पर विशेष प्रीति रखते थे। चार चेलों में से एक चेला बीमार हो गया। आचार्य ने उसकी चिकित्सा की व्यवस्था की; परन्तु कोई विशेष लाभ होता न दिखाई दिया। तब बीमार चेला बोला—गुरुजी, यह चोला तो आखिर बदलना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में औषध आदि के प्रपंच में पड़ने से कोई लाभ नहीं है। हजार वैद्य भी आयु पूर्ण होने पर मनुष्य को बचाने में समर्थ नहीं हो सकते।

राजा स्नान करके नूतन, सुन्दर और मूल्यवान् वस्त्रों से अलंकृत होकर, आभूषणों से भूषित होकर, सोने की मूंठ वाली तलवार हाथ में लेकर अभिमान के साथ कहता है-यह सारी पृथ्वी मेरी है। तब यह पृथ्वी उसका उपहास करती है और मानो कहती

है–अरे ढेले ! मुझमें मिलने वाले ! तू क्या घमण्ड करता है ! तेरे जैसे असंख्य–अनन्त भूपति मेरे उदर में समा गये हैं।

भाइयो ! इस धरावास पर कैसे–कैसे नामी राजा-महाराजा, सम्राट्, अर्धचक्रवर्त्ती और चक्रवर्त्ती हो चुके हैं ? जिनके नाम की ऐसी धाक थी कि शत्रुगण काँप उठते थे ! जिनके प्रताप के आगे सूर्य का प्रताप भी फीका पड़ा था । भाट और चारण जिनकी विरुदावली बखानते नहीं थकते थे। वे आज कहाँ हैं ? है उनकी कहीं खोज ? इस विशाल भूतल पर आज उनका एक भी चिह्न नज़र नहीं आता। कोई नहीं जानता कि वे किस राह से कहाँ चल दिये हैं ? सदैव अतृप्त रहने वाले पृथ्वी के इस उदर में उनको समा जाना पड़ा ! उनमें से कोई भी पृथ्वी को अपने साथ नहीं ले जा सकता। अरे, अपना निज का शरीर भी जो छोड़कर जाता है, वह दुनिया की अन्य वस्तुएँ कैसे साथ ले जाएँ ?

बीमार पड़ने पर इलाज़ कराओ और वैद्यों को बुलाओ तो मौत हँस कर कहती है–अब तो मैं आ गई हूँ। इंजेक्शन लगाने से क्या लाभ होगा ? अजमेर से डाक्टर साहब आ रहे थे, तब मौत ने कहा–मैं तुम्हें वहाँ पहुँचने ही न दूंगी। तुम्हारे पहुँचने से पहले ही रोगी को खत्म कर दूंगी !

पुरुष अगर अपनी पत्नी को दुराचारिणी समझता है तो उसकी निगरानी रखता है। मगर वह पत्नी अपने पति की इस चेष्टा का उपहास करती है और मन ही मन कहती है–कहाँ तक और कब तक तुम मेरी निगरानी रक्खोगे ? तुम अभी भोजन करके दुकान पर चले जाओगे मैं रहूँगी तो अपने धर्म से रहूँगी। सतीत्व का पालन करूँगी तो अन्तरात्मा से करूँगी। तुम्हारी निगरानी काम नहीं आ सकती।

मूंजी अपनी पूंजी को ज़मीन में गाड़-गाड़ कर रखता है और रात-दिन उसकी रक्षा के लिए चिन्तित रहता है। सोचता है-कहीं ऐसा न हो कि बड़े कष्ट से उपार्जित की हुई यह लक्ष्मी कहीं चली जाय! इसे चोर न चुरा ले जाएँ! इस प्रकार निरन्तर चिन्ताकुल रहने वाले उस लोभी धनिक को देखकर लक्ष्मी उपहास करती है। वह मानों ताना मारती है खूब गाड़-गाड़ कर रक्खे जा। गहरे गड्हे में दबा दे। अनेक मजबूत ताले लगा कर तिजोरी में बंद किये रख! किन्तु मैं तेरे साथ जाने वाली नहीं। तू गाड़ कर रखने का परिश्रम कर रहा है, मगर खोदने वाला कोई और ही होगा। तिजोरी का मालिक तो दूसरा ही बनेगा।

कृपण समझता है—यह पगड़ी त्यौहार के दिन बाँधूंगा, किन्तु उसे पता नहीं कि वह रक्खी रह जाएगी और कृपण अपनी महायात्रा के लिए प्रस्थान कर देगा।

हाँ, तो वह चेला अपने गुरुजी से कहने लगा—अब आप इस शरीर की चिन्ता छोड़ दीजिए और मुझे परमात्मा का नाम सुनाइए। पंच नमस्कार मंत्र का पाठ सुनकर ही मेरा जीवन सफल होगा। मैं इस शरीर के अपनेपन का त्याग करना चाहता हूँ। इससे कोई सरोकार रखने की मेरी इच्छा नहीं है। जब तक संयम निर्वाह में यह सहायक और उपकारक था, तब तक इसका पालन-पोषण और रक्षण किया। अब उसने जवाब दे दिया है तो मुझे भी इससे गरज नहीं है! अतएव मैं अन्न पानी का त्याग करके इस जीवन की चरमसाधना करना चाहता हूँ—अर्थात् समाधि ग्रहण करना चाहता हूँ।

आखिर यही हुआ। चेले ने समाधिमरण अंगीकार कर लिया।

गुरु ने कहा—देखो शिष्य जो साधु जीवन व्यतीत करते हैं, व्रतों और नियमों का शास्त्रानुकूल पालन करते हैं और अन्त में समाधि के साथ शरीर का त्याग करते हैं, उन्हें देवलोक मिलता है। इस आधार पर समझा जा सकता है कि तुम भी स्वर्ग में जाओगे। जब वहाँ जाओ तो एक वार मेरे पास अवश्य आना और कह जाना कि तुम वहाँ किस स्थिति में हो?

चेला बोला—जैसी आपकी आज्ञा महाराज!

चेला शरीर त्याग कर चल दिया। दिन बीते, सप्ताह गुजरे और आखिर कई मास भी आकर चले गये। गुरुजी अत्यन्त उत्कंठा के साथ प्रतीक्षा कर रहे थे। मगर उन्हें निराश होना पड़ा। शिष्य की आत्मा लौट कर नहीं आई। यह देख गुरुजी विचार में डूब गये! आखिर चेले ने आकर कुछ भी समाचार नहीं दिये! इसका क्या कारण हो सकता है? वह तुरन्त लौट कर मिलने को कह गया था!

गुरुजी विचार में ही थे कि संयोगवशात् दूसरा चेला भी बीमार हो गया। उसे भी अन्तिम समय में गुरुजी ने संथारा कराया और उसे आग्रहपूर्वक कह दिया—तू अवश्य वापिस आकर मुझ से मिलना!

उसने कहा—गुरुजी, जरूर आऊँगा।

मगर वह भी नहीं लौटा! गुरुजी का मन पहले ही डगमग होने लगा था। अब उसमें अधिक चंचलता आ गई।

मगर यहीं समाप्ति नहीं हुई। तीसरा चेला भी एक बार बीमार हो गया। उसकी बीमारी ने भी असाध्य रूप ग्रहण कर

लिया। उसे भी गुरुजी ने वही कहा। पर दैवयोग से वह भी लौट कर नहीं आया।

गुरुजी व्यग्र और चिन्तित से रहने लगे। कुछ समय व्यतीत हुआ कि सब से छोटा चेला भी एक दिन रुग्ण हो गया। उसने भी शुद्ध श्रद्धा के साथ परमात्मा का नामकीर्तन करते हुए शरीर का त्याग किया। वह भी स्वर्ग में देव के रूप में उत्पन्न हुआ। किन्तु वह भी गुरुजी के पास समाचार देने नहीं आया।

इस प्रकार चारों चेले चल बसे, परन्तु किसी ने भी अपने गुरुजी की सुधि नहीं ली। इसका गुरुजी के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। तरह-तरह के संकल्प विकल्प उनके मन में उत्पन्न और विलीन होने लगे। अन्त में उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि वास्तव में स्वर्ग है ही नहीं। स्वर्ग का अस्तित्व होता तो चार चेलों में से कोई तो आकर कहता! और जब स्वर्ग नहीं तो नरक भी नहीं है! स्वर्ग और नरक की प्ररूपणा करने वाले शास्त्र भी मिथ्या है! यह शरीर पंच भूतों का पुतला है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों से इसका निर्माण हुआ है। इन्हीं के संयोग से चेतना का आविर्भाव हो गया है। जब यह पाँच तत्त्व बिखर जाते हैं तो चेतना भी नष्ट हो जाती है। कोई अलग आत्मा नहीं है। परलोक जाने वाला कोई तत्त्व ही नहीं तो परलोक कहाँ से आएगा?

गुरुजी सोचते हैं—हाय, इतने वर्षों से व्यर्थ ही लोच कर करके कष्ट पा रहा हूँ! वृथा ही ओघा हिला रहा हूँ। किसी ने कुछ भी कह दिया, सब सहन करता आ रहा हूँ! किन्तु इसका अन्तिम परिणाम क्या है? कुछ भी तो नहीं!

वह मुनि पश्चात्ताप करने लगे—निष्प्रयोजन ही मैंने पत्नी का परित्याग किया। घर-गृहस्थी छोड़ी ! संसार के प्राप्त सुखों का परित्याग किया। मैंने पहले ही विचार क्यों नहीं किया—

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥

उत्तराध्ययन अ. ५-६

अरे ! भविष्य के स्वर्ग के सुखों की लालसा में पड़कर हाथ आये सुखों का त्याग करना योग्य नहीं है। कौन जाने परलोक है भी या नहीं ?

काश ! मैं पहले यह समझ गया होता तो क्यों अपनी जिंदगी बर्बाद करता ? मैं छला गया ! साधु बन कर जीवन का उत्तम काल मैंने बेकार कर दिया। खैर, कहावत है—

यद्तीतमतीतमेव तत् ।

अर्थात्-जो गया सो गया। जो चला गया है, वह वापिस आने वाला नहीं है। जो शेष है, उसका ही सदुपयोग करना चाहिए। जितनी उम्र बच गई है, उसमें जितना सुख भोगा जा सके, भोग लेना चाहिए।

भाइयो ! जब श्रद्धा बिगड़ जाती है तो सभी त्याग-पच्चक्खाण टूट जाते हैं ! इन गुरुजी का नाम अषाढ़भूति था। जब तक इनकी श्रद्धा शुद्ध थी तब तक निर्मल संयम का पालन कर रहे थे; अब श्रद्धा दूषित हो गई तो त्याग-प्रत्याख्यान आदि सभी क्रियाएँ गड़बड़ में पड़ गईं—किसी का ठिकाना नहीं रहा।

संसार का अधिकांश व्यवहार भी विश्वास पर ही चल रहा है। विश्वास के अभाव में जगत् का काम क्षण भर भी नहीं चल सकता। थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि पति को पत्नी पर कतई विश्वास नहीं है, पत्नी को पति पर विश्वास नहीं; सेवक को स्वामी पर और स्वामी को सेवक पर, सन्तान को माता-पिता पर माता पिता को अपनी सन्तान पर, और प्रजा को शासक पर विश्वास न रहे तो इस जगत् की क्या स्थिति होगी ? पति सोचता रहे कि मेरी पत्नी न जाने कब मुझे ज़हर दे देगी ! पत्नी सोचा करे कि पति न मालूम कब मेरी हत्या कर डालेगा ! ऐसी स्थिति में उनका खाना, पीना और सोना भी हराम हो जायगा ! दुनिया चार दिन भी न चल सकेगी ! किन्तु विश्वास के आधार पर विश्व की व्यवस्था चल रही है !

भाइयो ! संसार-व्यवहार विश्वास के बल पर चलाते हो तो धर्मव्यवहार में विश्वास को क्यों शिथिल होने देते हो ? संसार-व्यवहार श्रद्धा के बिना चलना असंभव है तो धर्मव्यवहार कैसे संभव हो सकता है ? बल्कि धर्म के संबंध में तो संसारव्यवहार की अपेक्षा भी अधिक श्रद्धा की आवश्यकता है।

इस देश की बहिनों में आज भी कैसा जीता-जागता विश्वास देखा जाता है। वे एक ही पति पर निर्भर रहती हैं। उनकी विद्य-मानता में भी अविद्यमानता में भी वे उसी की होकर रहती हैं। दूसरे देशों में यह बात नहीं है। एक बार एक घटना सुनने में आई थी। कोई अंगरेज मर गया तो उसे कब्र खोद कर दफ़ना दिया गया। उसकी मेम उस कब्र पर पंखा कर रही थी। उधर से कोई हिन्दुस्तानी निकला तो उसने सोचा-लोग कहते हैं कि विलायत में पतिव्रत धर्म बहुत शिथिल है। परन्तु इस रमणी को देखो जो अपने

पति की कब्र पर पंखा कर रही है। अहा! कैसी पतिपरायणा नारी है! सोचती होगी-नीचे हवा नहीं पहुँचती तो मैं हवा करके अपने पति को शान्ति पहुँचाऊँ! धन्य है यह सती नारी! इस देश में भी ऐसी-ऐसी स्त्रियाँ मौजूद हैं!

हिन्दुस्तानी के हृदय में उस रमणी के प्रति बड़ी श्रद्धा जागृत हुई। वह उसके पास पहुँचा और बोला—आप क्या कर रही हैं?

रमणी ने उत्तर दिया—मेरे पति कह गये थे कि जब तक मेरी कब्र न सूखे, तब तक दूसरी शादी न करना! कब्र के सूखने में देरी मालूम हुई तो हवा करके इसे सुखा रही हूँ! सोचती हूँ—कब कब्र सूखे और कब मैं दूसरी शादी करूँ!

हिन्दुस्तानी भाई यह उत्तर सुनकर विस्मित रह गये! उनके अन्तःकरण में जो आदर का भाव उत्पन्न हुआ था, वह सहसा विलीन हो गया और उसके स्थान पर घृणा एवं धिक्कार की भावना उत्पन्न हुई।

भाइयो! तुम गोरी चमड़ी वालों को अच्छा समझते हो; उन्हें आदर्श मानते हो और बात-बात में उनका ही अनुकरण करना पसंद करते हो; परन्तु उनका यह हाल है! वे ऐसे मर्यादा-हीन हैं। उन्हें धर्म के प्रति विश्वास नहीं है!

हाँ, तो मुनि की श्रद्धा डावाडोल हो गई। उनके विचार बदल गए। निश्चय कर लिया कि अब साधुजीवन के कष्टों को भोगना वृथा है। जो भूल हो चुकी है, उसे शाघ्र से शीघ्र सुधार लेने में ही कल्याण है!

मुनि ने फिर सोचा-अभी साधु का वेष त्याग दूंगा तो रास्ते में रोटी के लाले पड़ जाएँगे। यह मुँहपत्ती माता है। इसी की बदौलत पेटपूर्त्ति होती हैं। यह न रही तो कौन पूछेगा ? घर तक पहुँचना भी कठिन हो जायगा। अतएव रास्ते में यही साधुवेष रखना उचित है। घर या घर के निकट पहुँच कर इसे उतार फेंकूँ गा !

इस प्रकार निश्चय करके मुनि अपने घर की ओर रवाना हुए। इस घटना से उनके विशिष्ट प्रीतिपात्र चौथे चेले का आसन कम्पायमान हुआ। वह देव हुआ था। देवों को जन्म से ही अवधि-ज्ञान होता है। देवता ने अपने आसन के काँपने का कारण जानने के लिए अवधिज्ञान का उपयोग किया तो उसे मालूम हुआ-मेरे पूर्वभव के गुरुजी मिथ्यादृष्टि हो गए हैं और घर की ओर जा रहे हैं। उन्होंने इतने शास्त्र पढ़े, किन्तु उन्हें यह भी याद नहीं रहा कि देवलोक में, दो घड़ी के नाटक में ही हजारों वर्ष पूरे हो जाते हैं ! तब कोई कैसे आकर मिल सकता है ? अत्यन्त खेद की बात है कि गुरुजी क' समझ में इतना फर्क आ गया ! लेकिन उनके श्रद्धाभ्रंश का निमित्त उनके शिष्य हैं जिनमें मैं भी एक हूँ ! गुरुजी के अनुग्रह से मुझे संयम की महान् निधि प्राप्त हुई थी और उसके प्रताप से आज मैं देवलोक में स्वर्गीय सुखों का स्वामी बन सका हूँ। यह सब गुरुजी का ही उपकार है। वे मुझे संयम के मार्ग पर अग्रसर न करते और संयमपालन में सहायक न बनते तो आज मैं न जाने किस योनि में पड़ा सड़ रहा होता। इस प्रकार उन्होंने मेरा बड़ा उपकार किया है तो मुझे इस अवसर पर उसका बदला चुकाना चाहिए। गुरुजी को पतन से बचाना चाहिए।

गुरुजी जिस मार्ग से जा रहे थे, उसी मार्ग में, कुछ आगे एक जंगल पड़ता था। देव ने जंगल में जाकर एक अतिशय रम्य

विशाल एवं दिव्य मंडप बनाया और उसमें एक सुन्दर नाटकघर का निर्माण किया। देवता नाटक करने लगा।

भाइयो! देवों को हम लोगों की तरह काम नहीं करना पड़ता। उनको वैक्रियलब्धि प्राप्त होती है। इस लब्धि के प्रताप से वे जैसी चाहे वैसी रचना आनन-फानन में कर डालते हैं। उनके लिए बड़े से बड़ा काम चुटकियों का खेल है।

आप सोचते होंगे कि देवता तो अकेला आया था और अकेले से नाटक नहीं हो सकता। नाटक के लिए अनेक पात्र चाहिए। फिर उसने नाटक खेलना कैसे आरंभ कर दिया? इस शंका का समाधान यह कि देव अपनी विक्रियालब्धि के प्रभाव से एक साथ अनेक शरीरों की रचना कर सकते हैं। इस देवता ने भी अनेक शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार के धारण किये और नाटक खेलने लगा। यही नहीं, उसने अपनी विक्रियाशक्ति से हजारों दर्शकों की भी रचना कर ली। झुंड के झुंड नर और नारीवर्ग दर्शक के रूप में आ रहे थे। अच्छी खासी चहलपहल मची हुई थी।

गुरुजी नाट्यगृह के समीप पहुँचे तो उनका भी नाटक देखने को मन ललचा उठा। विचारधारा बदल चुकी थी। उन्होंने सोचा-अब मैं वास्तव में साधु नहीं हूँ। केवल साधु का वेष पहन रक्खा है; परन्तु साधु का वेष होने से ही कोई साधु नहीं होता। फिर यहाँ कोई जान-पहचान वाला भी नहीं है। अवसर मिल गया है तो क्यों चूकूँ! इस नाटक को देख कर ही आगे चलूँगा। जाना तो है ही!

ऐसा सोच कर गुरुजी भी नाटकगृह में प्रविष्ट हो गए और एक स्थान पर बैठ कर नाटक देखने लगे।

नाटक छह महीने तक लगातार चलता रहा। देवता ने गुरुजी के शरीर में ऐसे कुछ पुद्गल डाल दिये कि इतने लम्बे समय तक उन्हें भूख-प्यास की बाधा नहीं हुई। आज भी आबू और हिमालय पहाड़ों में ऐसे-ऐसे कंद विद्यमान सुने जाते हैं कि जिन्हें एक बार खा लिया जाय तो १५ दिनों तक भूख नहीं लगती।

यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा आहार करके उपवास तपस्या करने का कोई फल नहीं होता। इसी कारण जैन मुनि ऐसा नहीं करते।

हाँ, तो छह महीने में नाटक समाप्त हुआ। गुरुजी का दिल ठिकाने नहीं आया। उन्हें पता ही नहीं चला कि नाटक देखते-देखते आधा वर्ष व्यतीत हो गया है!

देवता ने विचार किया—जब गुरुजी को छह महीने किस प्रकार व्यतीत हो गए, यह पता नहीं चला तो देवलोक के नाटक में हजारों वर्ष पूरे हो जाएँ और पता न चले, यह कौन बड़ी बात है! अब देखना चाहिए कि गुरुजी के हृदय में करुणा की कितनी मात्रा अवशेष है?

भाइयो! करुणा का अर्थ है दया। भाव दया अरूपी मनोभाव है। अवधि ज्ञान से उसका पता नहीं चलता; क्यों कि वह ज्ञान रूपी पदार्थों को ही जान सकता है, अरूपी को नहीं।

चेला देव ने गुरुजी की करुणा की परीक्षा करने के लिए सात-सात वर्ष के छह बालक बनाए। उन्हें वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित कर दिया। छहों बालक एकान्त जंगल में खेलने लगे।

चलते-चलते गुरुजी बालकों के पास पहुँचे। बालक छोटे थे ही और आसपास में कोई सयाना आदमी नहीं था; जंगल था।

संभावना नहीं थी कि कोई देख लेगा। अतएव उन बालकों को देख कर गुरुजी का मन बिगड़ गया। हृदय में लालच उत्पन्न हुई। उन्होंने विचार किया—एक-एक बालक के शरीर पर हजारों-लाखों का माल है। मैं घर जा रहा हूँ। घर पर पहुँच कर भी धन के बिना क्या काम चलेगा। आखिर तो गृहस्थी चलाने के लिए धन चाहिए ही। नरक-स्वर्ग कल्पना हैं और पुण्य-पाप ढकोसला मात्र हैं! अब इस संकल्प विकल्प में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। धर्म-अधर्म का विचार करना नहीं है। किसी भी उपाय से सम्पत्ति हस्तगत करनी चाहिए। पैसा पास न होगा तो घर वाली भी नहीं अपनाएगी। वहाँ तो बात-बात में पैसे की माँग होगी। मिहनत मजूरी करूँ तो साधुपन छोड़ने का मज़ा ही क्या रहा?

इस प्रकार विचार करके साधुजी ने उन बच्चों से पूछा—अरे बच्चों! तुम्हारे नाम क्या हैं?

उनमें से एक ने कहा—मेरा नाम पृथ्वीकाय!

दूसरा—मेरा नाम अप्काय!

तीसरा—मेरा नाम तेजस्काय!

चौथा—मेरा नाम वायुकाय!

पाँचवा—मेरा नाम वनस्पतिकाय!

छट्ठा—और मेरा नाम त्रसकाय!

बच्चों ने अपने-अपने जो नाम बतलाए, वह अटपटे थे। साधुजी को यह नाम सुनकर चौंक उठना चाहिए था, किन्तु—

विवेकभ्रष्टानाम् भवति विनिपातः शतमुखः।

अर्थात्-एक बार जो विवेक से च्युत हो जाता है, उसका अधःपतन होता ही चला जाता है।

इस उक्ति के अनुसार गुरुजी इस समय विवेकहीन हो चुके थे। अतएव उन्होंने सोचा-साधुपन पालते-पालते मैंने वर्षों व्यतीत कर दिये, पर कुछ भी लाभ नहीं उठाया; बल्कि घाटे में ही रहे! अगर मैं इन बालकों को मार डालूँ तो इनका सारा जेवर मेरे हाथ आ जायगा! यह सोचकर गुरुजी ने एक-एक बालक को पकड़ा और उनकी गर्दन मरोड़ दी। छहों बालकों को मार कर उनका गहना उतारा और अपने पात्र में भर लिया।

साधुजी गहने लेकर चले तो बहुत प्रसन्न थे। सोच रहे थे कि अब सारा जीवन चैन से कटेगा।

देवता ने अपने गुरु का इतना अधिक पतन हुआ देखा तो उसे बहुत दुःख हुआ। फिर उसने सोचा-इनमें कुछ लोकलज्जा भी शेष रहा है या नहीं? इसकी भी परीक्षा कर देखना चाहिए।

देवता ने विक्रियालब्धि के द्वारा एक आर्या बनाई। उसके मुख पर मुँहपत्ती और हाथ में ओघा था। साध्वी का पूरा वेष ज्यों का त्यों था। विशेषता थी तो यही कि उसके अंग-अंग पर आभूषण सुशोभित हो रहे थे। इस प्रकार का विचित्र वेष बनाये साध्वी गुरुजी के सामने आई। आकर तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना की। उसे वन्दना करते देख वह जोश में आकर कहने लगे—अरी निर्लज्ज! पापिनी! तू आर्या बनी है और इस प्रकार के गहने पहने है? तुझे तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं हो रहा है! खेद है कि तू धर्म को कलंकित कर रही है! गहने पहनने थे तो साध्वी क्यों बनी? साध्वी बनी तो फिर गृहिणी के समान यह आभूषण क्यों

पहने हैं ? आखिर यह अनोखा वेष क्यों बनाया है ? तू घोर पाप कर रही है। तेरा आचरण धर्म से विपरीत है !

गुरुजी द्वारा की हुई भर्त्सना को सुनकर साध्वी ने कहा—महाराज, मेरी बात सुनिए। मेरी गुरुनीजी ने जब दीक्षा दी तो मैं छोटी-सी ही थी। मैंने कभी गहना नहीं पहना था। अचानक मन में आया कि पहन कर एक बार देख तो लूँ, कैसे लगते हैं ! आज मैं एक श्राविका के यहाँ गई। उसके गहने देख कर जी ललचा उठा। मैंने उससे कहा-मैंने कभी गहना पहना नहीं है। थोड़ी देर के लिए तुम दे दो तो जंगल में जाकर पहन लूँ और मन की मुराद पूरी कर लूँ।

इस प्रकार सफाई देकर साध्वी फिर बोली मैं इसी लिए यहाँ आई हूँ और अभी लौटकर यह गहने वापिस कर दूंगी। महाराज ! आप मुझे निर्लज्जा और पापिनी कहते हैं, परन्तु खास भगवान् महावीर के शिष्य अयवंता मुनि ने पानी में पात्री तिराई। उस पर भी भगवान् ने कहा-इन्हें कोई बुरा मत कहना ! स्वयं भगवान् ने भी उनको उपालंभ नहीं दिया मगर आप मुझे इतने कठोर शब्द कह रहे हैं !

आर्याजी फिर बोली-महाराज ! मैंने गहने अवश्य पहने हैं, किन्तु गहनों के लिए मानव-हत्या नहीं की है ! मैं मानती हूँ कि साधु-साध्वी को आभूषण नहीं पहनना चाहिए। पहनना दोष है, लेकिन यह तो बतलाइए कि किसी से माँग कर थोड़ी देर के लिए आभूषण धारण कर लेने में अधिक पाप है अथवा गहनों के लिए बालकों को गर्दन मरोड़ देना और फिर सदा के लिए गहने ले लेने में अधिक पाप है ? आपने छह बालकों की हत्या की है और आभूषणों से पात्र भर लिया है ! आप मानते हैं कि यह घटना किसी को मालूम ही नहीं है !

गुरुजी सोच--विचार में पड़ गए ! बड़ी व्याकुलता तो हुई कि इस घटना का पता साध्वी को कैसे लग गया ? परन्तु चुपचाप आगे चल दिये। तब देवता ने विचार किया--गुरुजी अब भी नहीं समझे ! इन्हें दूसरा कोई उपाय करके समझाना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके उसी मार्ग में कुछ आगे चल कर देवता ने एक सुन्दर नगर का निर्माण किया। कहीं स्त्रियाँ आ रही हैं, कहीं पुरुष जा रहे हैं। कहीं श्रावक धार्मिक गीत गाते हुए चले जा रहे हैं। चलते--चलते गुरुजी वहाँ पहुँचे तो नगर को देखकर चकित हो रहे। सोचने लगे- इधर से कई बार आया और गया हूँ ! पहले यहाँ कोई नगर नहीं था। अचानक आज यह सुन्दर नगर कहाँ से आ गया ? सोच--विचार में डूबे हुए वह कुछ आगे बढ़े तो बहुसंख्यक नर--नारियों ने गीत गाते हुए और जयजयकार करते हुए, सामने आकर मुनि का स्वागत किया। मुनि के निकट आने पर सबने 'घणी खमा, घणी खमा' के निनाद से आकाश गुंजा दिया। सब लोग उनके चरणों में गिर--गिर करके 'मत्थएण वंदामि' करने लगे ! फिर किसी ने कहा- पधारिए महाराज, आहार--पानी का समय हो गया है। गुरुदेव, कृपा कीजिए, हम पर करुणा कीजिए। इस नगर में विराज कर हमें ज्ञान का प्रकाश दिखलाइए !

मगर गुरुजी हक्के बक्के-से रह गए ! उन्हें सूझ नहीं पड़ा कि अब क्या करें और क्या न करें ? फिर उन्होंने सोचा मेरे पात्र में गहने भरे हैं। नगर में जाने से पोल खुल जाने का भय है। अतएव नगर में न जाकर सीधे आगे बढ़ जाना ही उचित होगा। यह सोच कर वे बोले—भाई, अभी अवसर नहीं है। मैं अभी नगर में नहीं आऊँगा। आज मुझे आहार-पानी भी नहीं लेना है। मैंने उपवास किया है। आप लोग आग्रह न कीजिए।

श्रावक लोग बड़े जबर्दस्त थे। उन्होंने कहा—यह नहीं होगा महाराज, आपको हमारा गाँव पावन करना ही होगा। आज आपको किसी प्रकार भी आगे नहीं जाने देंगे।

इतने पर भी गुरुजी नहीं माने। तब एक श्रावक ने साहस करके उनकी झोली पकड़ ली और खींचना आरंभ किया। खींच-तान में गुरुजी के हाथ से एक पल्ला छूट गया और पात्र जो नीचे गिरा तो सारा का सारा जेवर जमीन पर बिखर गया। यह हाल देखकर लोग कहने लगे! अरे, यह साधु नहीं है, चोर है, ठग है, धूर्त है!

हो हल्ला मच गया। आसपास के और भी बहुत से लोग वहाँ आकर जमा हो गये। एक ने कहा—अरे, यह तो मेरे लड़के के जेवर हैं। दूसरा बोला—और यह मेरे लड़के के गहने हैं! इस प्रकार कइयों ने अपने २ गहने पहचान लिए।

साधुजी चकरा गये। उनके चेहरे पर लज्जा और दीनता दिखाई देने लगी। आँखें नीची हो गईं। वह एक भी शब्द का उच्चारण न कर सके। चुपचाप ठगे से खड़े रह गए।

देवता ने विचार किया—अब इनकी तबीयत ठिकाने आ गई है।

यह सोचकर देवता ने सारी माया हटाली। वह छोटे चेले के रूप में उनके समक्ष उपस्थित हुआ। उसे देखकर गुरुजी ने पूछा—अरे, कहाँ से आया चेला?

चेला बोला—गुरुजी, देवलोक से।

गुरु—अगर तू पहले आ जाता तो मुझे इतना दोष न लगता! मैं संयम से और श्रद्धा से भ्रष्ट न होता! मेरी तो जीवन

भर की पूंजी ही स्वाहा हो गई ! मैं न इधर को रहा न उधर का ! मेरा सम्यक्त्व भी चला गया और सम्यक्त्व के चले जाने पर संयम तो रहता ही कैसे ? क्योंकि—

मूलं नास्ति कुतः शाखा ?

अर्थात्—जड़ के अभाव में वृक्ष की शाखाएँ कैसे ठहर सकती हैं ? संयम, नियम, तप आदि तो धर्म रूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं। इन सब का मूल सम्यक्त्व है। मूल उखड़ा तो सभी कुछ उखड़ गया !

चेले ने कहा—मैं ने पहले पहल आपको नाटक दिखलाया। फिर छह लड़के बनाये। तब भी आप न समझे तो साध्वी बनाई। फिर भी आप सन्मार्ग पर न आए तो अन्त में नगर का निर्माण किया। इतने पर भी आपको ज्ञान नहीं हुआ ?

यह सुनकर गुरुजी ने कहा—शिष्य ! यद्यपि तुम विलम्ब से चेते और मेरे पास आये हो, फिर भी मैं तुम्हारा आभार मानता हूँ। ठीक समय पर तुमने मेरी रक्षा की। मेरी आत्मा को अधिक पतित होने से बचा लिया। मैं अपनी श्रद्धा और संयम में लगे दोषों के लिए प्रायश्चित लूँगा और आत्मशुद्धि करूँगा। अब जीवनपर्यन्त कभी संयम का परित्याग करने का विचार नहीं करूँगा।

चेले ने कहा—विलम्ब के लिए क्षमा चाहता हूँ। आपकी कृपा से ही मुझे देवलोक के सुख प्राप्त हो सके हैं। मगर क्या करता ? आपको नाटक देखते देखते छह महीने बीत गये और मालूम ही न हुआ ! तो मुझे स्वर्ग के नाटक देखने में यदि हजारों वर्ष बीत जाएँ और समय का पता ही न चले तो क्या आश्चर्य है ? इस लिहाज से तो मैं ने जल्दी ही की है।

आषाढ़ भूति की श्रद्धा पुनः शुद्ध और प्रगाढ़ हो गई। उन्होंने फिर तपस्या की और कर्म खपा कर मोक्ष प्राप्त किया।

आशय यही है कि समस्त धर्मक्रियाओं का प्राण श्रद्धा है। वीतराग भगवान् के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। इसके बिना जीव का कल्याण कदापि नहीं हो सकता। कहा है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

—तत्त्वार्थ, १.

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग हैं।

यहाँ ज्ञान और चारित्र से पहले सम्यग्दर्शन को इसीलिए स्थान दिया गया है कि उसके अभाव में ज्ञान और चारित्र टिक नहीं सकते। आषाढ़ भूति की श्रद्धा बिगड़ी तो ज्ञान और चारित्र भी बिगड़ते देरी नहीं लगी। अतएव भाइयो! अपने श्रद्धान को सुदृढ़ बनाओगे तो तुम्हारा परम कल्याण होगा और आनन्द ही आनन्द हो जायगा।

६-२-४९ }
भीम }